Bachelor of Arts (Sanskrit)

बैचलर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)

षष्ठ सेमेस्टर - बी0ए0एस0एल (N)- 350

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त

(Fundamentals of Ayurveda)

(MINOR ELECTIVE)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **बी0ए0एस0एल (N)- 350**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय, संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर गिरीश चन्द्र पन्त, (अध्यक्ष)
संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर जया तिवारी, (अध्यक्षा)
संस्कृत विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रोफेसर देवेश कुमार मिश्र,
संस्कृत संकाय, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय
मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं मुख्य सम्पादक

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

सह सम्पादन / प्रूफरिडिंग एवं फार्मेटिंग

डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल,
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

श्री राहुल पन्त,
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 विवेक ममगाई,
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 कान्ता प्रसाद
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
डॉ0 विवेक ममगाई, असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1**	(इकाई 1)
श्री राहुल पन्त, असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1** **खण्ड 3**	(इकाई 2 एवं 3) (इकाई 1,2, 3 एवं 4)
डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 2**	(इकाई 4)
डॉ0 कान्ता प्रसाद, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 2**	(इकाई 1 एवं 2)

डॉ0 प्रभाकर पुरोहित, **खण्ड 2** (इकाई 4)
असि. प्रोफे-ए.सी. ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

आवरण पृष्ठ

डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139
कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
पुस्तक का शीर्षक- आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त - बी0ए0एस0एल (N)- 350
प्रकाशन वर्ष : 2026
ISBN No.
मुद्रक:

नोट:- सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) आयुर्वेद का परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई-1 आयुर्वेद की परिभाषा, उद्देश्य एवं विषयवस्तु	06-20
इकाई-2 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास	21-32
इकाई-3 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ	33-44
इकाई-4 आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य की अवधारणा	45-58
खण्ड- दो (Section-B) आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त	**पृष्ठ संख्या 59**
इकाई-1 त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा	60-73
इकाई-2 पंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा	74-84
इकाई-3 आयुर्वेद के महत्त्वपूर्ण औषधीय वृक्ष एवं उनके गुण	85-106
इकाई-4 षड्ऋतुचर्या	107-118
खण्ड- तीन (Section-C) अष्टांग आयुर्वेद	**पृष्ठ संख्या 119**
इकाई-1 कायचिकित्सा (सामान्य चिकित्सा) एवं कौमारभृत्य (बाल चिकित्सा)	120-129
इकाई-2 शल्यतंत्र (सर्जरी) एवं शालाक्य-तंत्र (प्रवेश और नेत्र विज्ञान)	130-141
इकाई-3 भूत विद्या (मनोरोग चिकित्सा) एवं अगद-तंत्र (विष विज्ञान)	142-151
इकाई-4 रसायन (कायाकल्प) एवं वाजीकरण (कामोत्तेजक)	152-161

खण्ड- एक (Section-A)
आयुर्वेद का परिचय एवं प्रतिपाद्य विषय

इकाई.1 आयुर्वेद का परिचय, उद्देश्य तथा विषय वस्तु

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 आयुर्वेद का परिचय
1.4 आयुर्वेद के उद्देश्य
1.5 आयुर्वेद की विषय वस्तु
1.5.1 त्रिदोष एवं त्रिमल सिद्धान्त
1.5.2 पंचमहाभूत
1.5.3 सप्तधातु
1.5.4 अष्टांग
1.5.5 पंचकर्म
1.5.6 विविध रोग एवं निदान
1.5.7 आहार और जीवनशैली
1.6 आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.10 निबधात्मक प्रश्न
1.11 संदर्भ-ग्रंथ सूची

1.1 प्रस्तावना

आयुर्वेद को चिकित्सा की सबसे पुरानी पद्धति माना जाता हैं।इसकी उत्पत्ति 3000 वर्ष पूर्व भारत मे हुई थी। यह चिकित्सा पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि शरीर और मन एक दूसरे से आपस मे जुड़े हुए है। यही कारण है आयुर्वेद बेहतर जीवन और अच्छे स्वास्थ्य के लिए मानसिक,शारीरिक,और आध्यात्मिक पक्ष मे संतुलन की आवश्यकता पर ज़ोर देता है। सन्क्षिप्त मे कहा जा सकता है कि आयुर्वेद शरीर एवं मन के भीतर संतुलन व सामंजस्य पर बल देता है क्योकि आयुर्वेद त्रिदोष के सिद्धान्त पर स्थापित है। आयुर्वेद में हर एक व्यक्ति को तीन मौलिक ऊर्जाओ अथवा दोषों का एक अद्भुत संयोजन माना जाता हैं। जो कि मानसिक और शारीरिक विशेषताओं को नियंत्रित करता है वात,पित,कफ ये तीन प्रकार के दोष माने जाते हैं। इनके संतुलन पर विशेष ध्यान दिया जाता हैं। इनका संतुलन तभी होगा जब आप उचित आहार,व्यायाम,जीवन शैली पर विशेष रूप से ध्यान देंगे। आयुर्वेद भी इसकी अनुशंसा करता हैं साथ ही ध्यान,योग,और हर्बल दवाओं के उपयोग पर भी ज़ोर देता हैं। इस इकाई मे हम आयुर्वेद परिचय,उद्देश्य एवं विषय वस्तु के विषय मे जान पाएंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप—

- ❖ आयुर्वेद का परिचय एवं स्वरुप के विषय में जान पायेंगे।
- ❖ आयुर्वेद का हमारे जीवन में क्या उद्देश्य है। उस उद्देश्य को जान पायेंगे।
- ❖ आयुर्वेद के माध्यम से रोगोपचार के विषय में जान सकेंगे।
- ❖ आयुर्वेद के अन्तर्गत त्रिदोष, सप्तधातु आदिविषय वस्तु को जानेगें।
- ❖ आयुर्वेद की विविध ग्रन्थों एवं सम्प्रदायों के विषय में जानेगें ।

1. 3 आयुर्वेद का परिचय

आयुर्वेद शब्द 'आयुः' और 'वेद' से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ जीवन के ज्ञान से है। यह भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित हुई एक प्राचीन चिकित्सा परंपरा है,जो आज भी भारत, नेपाल और श्रीलंका जैसे देशों में व्यापक रूप से प्रचलित है। इन क्षेत्रों में बड़ी संख्या में लोग दैनिक जीवन में आयुर्वेदिक सिद्धांतों और उपचार विधियों को अपनाते हैं। आयुर्वेद का विकास किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं, बल्कि विभिन्न कालखंडों में कार्यरत विद्वान आचार्यों— जैसे चरक, सुश्रुत, वाग्भट और भाव मिश्र के सामूहिक योगदान से हुआ। समय के साथ आयुर्वेद को लेकर अनेक मत सामने आए हैं। कुछ आलोचकों का मत है कि इसके कुछ अनुप्रयोगों में सीसा, पारा जैसी विषैली धातुओं का प्रयोग किया गया, जिसे अज्ञानजन्य या त्रुटिपूर्ण अभ्यास का परिणाम माना जाता है। इसी आधार पर आधुनिक ऐलोपैथिक चिकित्सा पद्धति के कुछ समर्थक आयुर्वेद को वैज्ञानिक कसौटियों पर खरा न उतरने वाला मानते हैं। इसके विपरीत, शल्य चिकित्सा के क्षेत्र में आचार्य सुश्रुत के योगदान को ऐतिहासिक रूप से अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है।

आयुर्वेद को विश्व की सबसे प्राचीन चिकित्सा प्रणालियों में गिना जाता है। इससे संबंधित आयुर्विज्ञान का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ बनाए रखना, रोग की अवस्था में उपचार करना तथा दीर्घायु को प्रोत्साहित करना है। आयुर्वेदिक ग्रंथों के अनुसार, वात, पित्त और

कफ—इन तीन दोषों के असंतुलन से ही रोग उत्पन्न होते हैं, जबकि इनका संतुलन ही स्वास्थ्य की अवस्था है।आयुर्वेद को त्रिसूत्रात्मक प्रणाली भी कहा गया है, जिसमें रोग के कारण (हेतु), उसके लक्षण (लिंग) और उपचार (औषध) को विशेष महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त, आयुर्वेदिक चिकित्सा को आठ अंगों में विभाजित किया गया है, जिन्हें अष्टांग वैद्यक कहा जाता है। इनमें कायचिकित्सा, शल्यतंत्र, शालाक्यतंत्र, कौमारभृत्य,अगदतंत्र, भूतविद्या, रसायनतंत्र तथा वाजीकरण शामिल हैं।कुछ परंपरागत मान्यताओं में आयुर्वेद को लोककल्याण हेतु दिव्य ज्ञान के रूप में देखा गया है, जबकि आधुनिक विद्वानों का एक वर्ग इसे प्रारंभिक वैज्ञानिक या संक्रमणकालीन ज्ञान प्रणाली मानता है। इस प्रकार आयुर्वेद को लेकर आस्था और आलोचना—दोनों दृष्टिकोण समानांतर रूप से विद्यमान हैं। जहाँ तक गंभीर रोगों जैसे कैंसर का प्रश्न है, कुछ आयुर्वेदिक उपचार लक्षणों में राहत देने में सहायक माने गए हैं, किंतु अब तक ऐसे ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं जो इसे पूर्ण उपचार के रूप में स्थापित करें। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक चिकित्सा प्रणाली भी इस रोग के निश्चित समाधान को लेकर निरंतर अनुसंधान की अवस्था में है। कुछ अध्ययनों में यह तथ्य सामने आया है कि बाजार में उपलब्ध कुछ आयुर्वेदिक औषधियों में सीसा, पारा और आर्सेनिक जैसे तत्व पाए गए। इन्हें आयुर्वेद की मूल अवधारणा से अधिक, उसके अवैज्ञानिक प्रयोग से जोड़कर देखा जाता है। वर्ष 2008 में किए गए एक अध्ययन के अनुसार, इंटरनेट के माध्यम से बेची जा रही कुछ आयुर्वेदिक औषधियों में उल्लेखनीय मात्रा में ऐसे तत्व पाए गए, जिनके सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रभावों पर आगे और शोध की आवश्यकता बताई गई। भारत में मानव स्वास्थ्य की सुरक्षा और रोग मुक्ति के लिए चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं ।जैसे- यूनानी, एलोपैथी, बायोकैमिक, रेडियोथिरेपी आदि ।इनसे मानव को स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त हुआ है, और इनके विद्वानों की संख्या भी नित्यप्रति बढ़ती जा रही है।किन्तु प्राचीनता, शोध, प्रयोग और इस देश के निवासियों से प्राकृतिक रूप से अनुकूलता की दृष्टि से आयुर्वेद प्रणाली का स्थान सर्वोच्च है ।आयुर्वेद भारत की अपनी मौलिक देना है ।आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रमाणिकता और परिणाम की निश्चयात्मक स्थिति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शंका अथवा विवाद नहीं है ।धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति मानव शरीर द्वारा ही सम्भव है ।अत: शरीर को स्वस्थ और निरामय रखना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है, **"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।"**शरीरकोपूर्ण स्वस्थ एवं रोगमुक्त रखने के लिए जीवन में आयुर्वेदलाभजनक सिद्ध होता है ।जो शास्त्र हमें आयु का ज्ञान कराता है, उसे आयुर्वेद कहते हैं ।आयुर्वेद लक्षणों द्वारा सुख-दुख, हित-अहित, प्रमाण और अप्रमाण द्वारा आयु का उपदेश करता है ।मनुष्य की सर्वप्रथम जो इच्छा होती है कि वह निरोगी रहे। निरोगी काया ही मनुष्य जीवन की सफलता बतलाती है।शरीर और जीव की आत्मा के संयोग का नामजीवन कहलाता है तथा उस जीवन की उपस्थिति ही आयुष्य है । आरोग्य काया के लिए आयुर्वेद के उपदेशों को विधिपूर्वक निर्वाह करना मानव मात्र का प्रथम कर्त्तव्य है । आरोग्य के बिना पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति संभव नहीं हैं।आचार्य वाग्भट्ट ने कहा हैं-

आयु:कामयमानेन धर्मार्थ सुख साधनम् ।आयुर्वेदोपदेषुविधेय: परमादर: इसलिए व्यक्ति को स्वस्थ रहने के लिए, विशाल जीवन के लिए तीन प्रमुख उपायों का पालन प्रमुख रूप से करना चाहिए ।१ आहार, २ निद्रा, ३ ब्रह्मचर्य । शरीर और स्वास्थ्य के विषय में जितना पुरातन , प्रामाणिक, बलिष्ट और तर्क संगत विवेचन के साथ विस्तार पूर्वक साहित्य आयुर्वेद के पक्ष में प्राप्त है, अन्य किसी विज्ञान या चिकित्सा पद्धति के विषय में नहीं पाया जाताहैं।

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।

आयुर्वेद मे मानव के शारीरिक धातु, अग्निसाम्य के मानक का ही ध्यान रखता है, किन्तु वह मनुष्य को आत्म, इन्द्रिय एवं मन से भी प्रसन्न रखता है ।तभी सही अर्थों में मनुष्य को स्वस्थ कहा जा सकता है।आज सुख-सुविधा सम्पन्न होते हुए भी हम विभिन्न प्रकार की शारीरिक बीमारियों और मानसिक समस्याओं के साथ जीवन यापन कर रहे हैं ।आज संसार के अत्याधुनिक जीवन यापन करने वालों में लगभग 60 से 70% व्यक्ति ब्लडप्रेशर (हाइपर टेंशन) डायबिटीज, मेंटल स्ट्रेस आदि व्याधियों से ग्रस्त हैं ।ऐसे में उत्कृष्ठ स्वास्थ्य हेतु आयुर्वेद की जीवन में कितनी सार्थकता है यह देखा जा सकता है । हमारे यहाँ वैदिक मन्त्रों में परमात्मा से मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य तथा मन को शुभ संकल्पों से युक्त बनाने की प्रार्थना की गई है- **ॐ यज्जाग्रतोदूरमुदैति दैवंत दुसुप्तस्य तथैवैति।दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**।। आयुर्वेद में स्वास्थ्य का तात्पर्य मानसिक शारीरक एवं भावनात्मक तीनों ही प्रकार से स्वस्थ रहने से है ।

1.4 आयुर्वेद का उद्देश्य

आयुर्वेद का मूल उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा रोगग्रस्त व्यक्ति के रोग का शांति प्रदान करना है। इस सिद्धांत को आचार्य चरक ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—**"प्रयोजनंचास्यस्वस्थस्यस्वास्थ्यरक्षणंआतुरस्यविकारप्रशमनं च ॥"**इस श्लोक के अनुसार आयुर्वेद के दो प्रमुख उद्देश्य माने गए हैं—**क.** स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य का संरक्षण **ख.** रोगी व्यक्तियों के विकारों का शमन ।

1. स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा - स्वास्थ्य संरक्षण के लिए आयुर्वेद व्यक्ति को अपने शरीर की प्रकृति तथा देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप जीवन-यापन करने का निर्देश देता है। इसके अंतर्गत नियमित एवं संतुलित आहार-विहार, उचित चेष्टा और व्यायाम, शौच, स्नान, शयन तथा जागरण जैसी दैनिक क्रियाओं का सम्यक् पालन आवश्यक माना गया है। गृहस्थ जीवन के लिए वर्णित शास्त्रोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या का अनुसरण स्वास्थ्य बनाए रखने का प्रमुख साधन है।आयुर्वेद विवेकपूर्ण आचरण, इंद्रिय और मन के संयम, तथा अपनी शारीरिक क्षमता और सीमाओं को ध्यान में रखकर कर्म करने पर बल देता है। मल, मूत्र आदि प्राकृतिक वेगों को न रोकना, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ और अहंकार जैसे- मानसिक दोषों से बचना भी स्वास्थ्य-संरक्षण के महत्वपूर्ण उपाय माने गए हैं। साथ ही समाज में स्वच्छ ता और स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता फैलाना भी आयुर्वेदिक दृष्टि से स्वास्थ्य-संरक्षण का ही अंग है।

2. रोगी व्यक्तियों के विकारों का शमन

रोग ग्रस्त व्यक्ति के उपचार के लिए आयुर्वेद प्रत्येक रोग के सम्यक् ज्ञान को अनिवार्य मानता है। इसके अंतर्गत **रोग के हेतु** (कारण), **लिंग** (रोग-परिचायक लक्षण—जैसे पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति तथा उपशयानुपशय) एवं **औषध** (उपचार) का स्पष्ट विवेचन आवश्यक है – ये तीनों आयुर्वेद के त्रिस्कन्ध अथवा तीन प्रधान आधार माने गए हैं। आयुर्वेदिक ग्रंथों में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध है। किसी भी रोग के प्रभावी उपचार के लिए आयु के विभिन्न संघटकों का ज्ञान आवश्यक माना गया है, क्योंकि इन संघटकों की सम्यक् समझ के बिना उनमें उत्पन्न होने वाले विकारों का सही आकलन संभव नहीं होता। आयु - आयुर्वेद के अनुसार शरीर, इंद्रिय, मन और

आत्मा के समन्वय को आयु कहा जाता है। आयु केवल जीवन की अवधि नहीं, बल्कि जीवन की गुणवत्ता का भी सूचक है।प्रभाव के आधार पर आयु के चार प्रकार माने गए हैं—

1. **सुखायु** – शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य तथा भौतिक साधनों से युक्त जीवन।
2. **दुःखायु** – रोगग्रस्त अथवा साधनहीन जीवन।
3. **हितायु** – सदाचार, विवेक और लोककल्याण से युक्त श्रेष्ठ जीवन।
4. **अहितायु** – दुराचार एवं समाज-विरोधी आचरण वाला जीवन।

इसी प्रकार काल-प्रमाण के अनुसार भी आयु तीन प्रकार की मानी जाती है—दीर्घायु, मध्यायु और अल्पायु।

1.5 आयुर्वेद की विषय वस्तु

1.5 .1 त्रिदोष एवं त्रिमल सिद्धान्त- भारतीय आयुर्वेदिक पद्धति मे मानव शरीर एवं चेतना – को समझने के लिए जिन मौलिक सिद्धांतों का निष्पादन कियागया हैं,उनमे त्रिमल और त्रिदोष सिद्धांत का मुख्य स्थान माना जाता हैं। भारतीय आयुर्वेद रोग-चिकित्सा की परंपरा नहीं, अपितु स्वस्थ जीवन-विज्ञान (Science of Healthy Living) है, जिसमें स्वास्थ्य को शरीर, मन और आत्मा की उपयुक्त सामंजस्यपूर्ण अवस्था के रूप में परिभाषित किया गया है। इसी संदर्भ में त्रिदोष एवं त्रिमल सिद्धांत मानव-शरीर की संरचना, क्रियात्मकता, विकारोत्पत्ति तथा व्यक्तित्व-निर्माण को समझने की आधारशिला प्रदान करते हैं।

आयुर्वेद के अनुसार पंचमहाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से तीन प्रकार की जैविक शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिन्हें हम वात, पित्त और कफ कहते है। ये ही तीनों मिलकर त्रिदोष कहलाते हैं। दोष शब्द का आशय यहाँ "दोष" नहीं, बल्कि धारण करने वाली शक्ति से है जो शरीर की सभी क्रियाओं को नियंत्रित करती है। (क) वात दोष-वायु+आकाश मुख्य कार्य: गति, संचार और प्रेरणा वात दोष को शरीर की सभी निरंतर क्रियाओं का नियंत्रक माना जाता है—जैसे श्वसन, मानसिक चंचलता,रक्त-संचार, स्नायु-संकेत, एवं उत्सर्जन वात के संतुलन में रहने पर मानव, सक्रिय एवं सतर्क होता है, जबकि देखा जाता हैं वात-विकार से भय, अस्थिरता और स्नायु-संबंधी अनिद्रा, चिंता, विकार उत्पन्न होते हैं। (ख) पित्त दोष अग्नि + जल इसका मुख्य कार्य हैं पाचन, बुद्धि एवं रूपांतरण। पित्त दोष शरीर में सभी प्रकार की ऊष्मा, पाचन, चयापचय और बौद्धिक क्रियाओं का संचालन के रूप मे कार्य करता है। यह भोजन को ऊर्जा में परिवर्तित करने का कार्य है एवं विचारों को स्पष्टता प्रदान करता है। पित्त संतुलन में होने पर व्यक्ति तेजस्वी, बुद्धिमान और नेतृत्वशील होता है, परंतु असंतुलन से क्रोध, चिड़चिड़ापन, अम्लता और दाहजन्य जैसे रोग उत्पन्न होते हैं। (ग) कफ दोष- जल + पृथ्वी,कफ दोष शरीर की स्थूल संरचना, स्निग्धता, बल और सहनशीलता प्रदान करता है। यह जोड़ों में चिकनाई, ऊतकों की वृद्धि और मानसिक स्थिरता का आधार है। कफ संतुलित हो तो व्यक्ति धैर्यवान, शांत और करुणामय होता है, किंतु असंतुलन से आलस्य, जड़ता, मोटापा और श्वसन रोग उत्पन्न होते हैं।

1.त्रिदोषों का साम्य आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य की परिभाषा है-"समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियाः।" इसका अर्थ हैं जब त्रिदोष, अग्नि, धातु और मल सम अवस्था में हों, तभी व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वस्थ कहलाता है।

2. त्रिमल सिद्धांत- (क) त्रिमल की अवधारणा-त्रिदोष जहाँ शरीर की क्रियाशील शक्तियाँ हैं, वहीं त्रिमल शरीर से निष्कासित होने वाले अपशिष्ट पदार्थ हैं।

3. त्रिदोष एवं त्रिमल का पारस्परिक संबंध त्रिदोष और त्रिमल परस्पर गहन रूप से जुड़े हुए हैं। दोषों की असंतुलित अवस्था ⟶ मल-क्रिया में विकार मल-निरोध या विकृति ⟶ दोष-प्रकोप इस प्रकार शरीर एक सजीव जैविक तंत्र के रूप में कार्य करता है, जहाँ संतुलन ही स्वास्थ्य और असंतुलन ही रोग का कारण बनता है।

1.5 .2 पंचमहाभूत और प्रकृति-

इसका संबंध शरीर के पंचमहाभूतों (पृथ्वी, वायु, आकाश,जल अग्नि) से बना है और हर एक व्यक्ति की एक अतुलनीय शारीरिक एवं मानसिक प्रकृति होती है। इन्हीं के अनुपात से शरीर का स्वरूप और कार्य निर्धारित होता है। पंचमहाभूत भारतीय दर्शन, विशेषकर वैदिक, उपनिषदिक और आयुर्वेदिक परंपरा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है। "पंच" का अर्थ है पाँच और "महाभूत" का अर्थ है महान तत्व। ये पाँच मूलभूत तत्व संपूर्ण सृष्टि, प्रकृति, मानव शरीर और चेतना के आधार माने जाते हैं। ये हैं — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन पंचमहाभूतों से ही सृष्टि की रचना हुई है और अंततः सभी इन्हीं में विलीन हो जाते हैं।

1. पृथ्वी तत्व-पृथ्वी तत्व स्थिरता, ठोसपन और आधार का प्रतीक है। यह वह तत्व है जो रूप, संरचना और सहारा प्रदान करता है। पर्वत, मिट्टी, पेड़-पौधे, मानव शरीर की हड्डियाँ, मांस और त्वचा पृथ्वी तत्व से संबंधित हैं।

2. जल तत्व-जल तत्व प्रवाह, शीतलता और जीवनदायिनी शक्ति का प्रतीक है। नदी, समुद्र, वर्षा, रक्त, लार, आँसू—ये सभी जल तत्व के स्वरूप हैं। जल के बिना जीवन की कल्पना भी संभव नहीं है।

3. अग्नि तत्व-अग्नि तत्व ऊर्जा, प्रकाश, उष्मा और परिवर्तन का प्रतीक है। सूर्य, अग्नि, बिजली और शरीर की पाचन शक्ति इसी तत्व से संबंधित हैं।मानव जीवन में अग्नि तत्व बुद्धि, साहस, आत्मबल और निर्णय क्षमता का प्रतिनिधित्व करता है।

4. वायु तत्व-वायु तत्व गति, स्पंदन और जीवन शक्ति का प्रतीक है। श्वास-प्रश्वास, हृदय की धड़कन, तंत्रिका तंत्र और शरीर की सभी गतियाँ वायु तत्व से संचालित होती हैं।

5. आकाश तत्व-आकाश तत्व सबसे सूक्ष्म और व्यापक तत्व है। यह शून्यता, विस्तार और संभावनाओं का प्रतीक है। आकाश वह स्थान है जिसमें अन्य चारों तत्व अस्तित्व में आते हैं। पंचमहाभूतों का पारस्परिक संबंध-पंचमहाभूत एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, बल्कि परस्पर जुड़े हुए हैं। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति मानी जाती है। यही क्रम सृष्टि के विकास और मानव शरीर की रचना में भी देखा जाता है।

आयुर्वेद और पंचमहाभूत- आयुर्वेद में पंचमहाभूतों से वात, पित्त और कफ—इन तीन दोषों की उत्पत्ति मानी जाती है। शरीर और मन का स्वास्थ्य इन्हीं तत्वों के संतुलन पर निर्भर करता है। सही आहार, दिनचर्या, योग और ध्यान के माध्यम से पंचमहाभूतों का संतुलन बनाए रखा जा सकता है। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि वह स्वयं भी इन पाँच तत्वों से बना है, तब उसमें प्रकृति के प्रति सम्मान, संतुलन और आत्मज्ञान का भाव विकसित होता है। पंचमहाभूत हमें सिखाते हैं कि संतुलन ही जीवन का मूल मंत्र है।

1.5 .3 सप्त धातु सिद्धांत- शरीर की संरचना एवं पोषण सप्त धातुओं पर आधारित है-रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा और शुक्र आहार का पाचन पाचकाग्नि एवं धात्वग्नि द्वारा

होकर इन धातुओं का पोषण करता है। यह एक सजीव, चेतन और निरंतर परिवर्तित होने वाली संरचना है। इस संरचना को बनाए रखने, पोषण देने और क्रियाशील बनाए रखने वाले मूल घटकों को धातु कहा गया है।'धातु' शब्द की व्युत्पत्ति "धारणात् धातवः" से मानी जाती है—अर्थात् जो शरीर को धारण करे, पोषित करे और स्थायित्व प्रदान करे, वही धातु है। आयुर्वेद में शरीर की सात प्रधान धातुओं का वर्णन मिलता है, जिन्हें सप्तधातु कहा जाता है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। ये सातों धातुएँ क्रमशः एक-दूसरे से पोषित होती हैं और शारीरिक, मानसिक एवं ओजस्वी व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

1. रस धातु-स्वरूप एवं कार्य रस धातु सप्तधातुओं में प्रथम है। यह पचाए गए आहार का सार रूप है और शरीर में पोषण, तृप्ति और जीवन-रस प्रदान करती है।

2. रक्त धातु -स्वरूप एवं कार्य रस से पोषित होकर रक्त धातु का निर्माण होता है। यह शरीर में प्राण, ऊष्मा और जीवन-शक्ति का संवाहक है।

3. मांस धातु-स्वरूप एवं कार्य मांस धातु शरीर को आकार, बल और आवरण प्रदान करती है। यह शरीर की बाह्य संरचना को दृढ़ बनाती है।

शरीर में भूमिका- मांसपेशियों का निर्माण अंगों की सुरक्षा,शारीरिक शक्ति ,असंतुलन के प्रभाव मांस-धातु विकार से दुर्बलता अंग-शैथिल्य ग्रंथियाँ आत्मविश्वास में कमी देखी जाती है।

4. मेद धातु स्वरूप एवं कार्य मेद धातु शरीर में स्नेह, ऊर्जा-संचय और स्थिरता प्रदान करती है।

5. अस्थि धातु स्वरूप एवं कार्य अस्थि धातु शरीर की ढाँचागत आधारशिला है। यह स्थिरता और सहारा प्रदान करती है।

6. मज्जा धातु स्वरूप एवं कार्य मज्जा धातु अस्थियों के भीतर स्थित होती है और स्नायु-तंत्र तथा मस्तिष्क से गहराई से जुड़ी होती है।

7. शुक्र धातु स्वरूप एवं कार्य -शुक्र धातु सप्तधातुओं में अंतिम और सर्वाधिक सूक्ष्म है। यह जीवन-सृजन, ओज और तेज का आधार है।

8. सप्तधातु, ओज और व्यक्तित्व सप्तधातुओं का सम्यक् संतुलन ओज को जन्म देता है, जो शरीर की प्रतिरोधक-शक्ति और मानसिक स्थिरता का आधार है। धातुओं की शुद्धता से बल तेज स्थिरता आत्मविश्वास का विकास होता है, जो एक संतुलित और परिपक्व व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

1.5.4 अष्टांग- भारतीय योग-दर्शन में अष्टांग योग एक ऐसी सुव्यवस्थित साधना-पद्धति है, जो मानव को शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक—सभी स्तरों पर परिष्कृत करती है। यह योग केवल व्यायाम या ध्यान की तकनीक नहीं, बल्कि जीवन जीने की सम्पूर्ण कला है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में योग को परिभाषित करते हुए कहा—**"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पतंजलि ने योग की आठ क्रमबद्ध सीढ़ियाँ बताई हैं, जिन्हें अष्टांग योग कहा जाता है। ये आठ अंग साधक को बाह्य आचरण से आन्तरिक आत्मबोध की ओर ले जाते हैं।

1. यम-सामाजिक एवं नैतिक अनुशासन, यम वे नैतिक नियम हैं, जो व्यक्ति के समाज के प्रति आचरण को शुद्ध करते हैं। ये बाह्य संयम के माध्यम से आंतरिक शांति की नींव रखते हैं।यम के पाँच प्रकार हैं। 1-अहिंसा – मन, वचन और कर्म से किसी को पीड़ा न देना

2-सत्य – यथार्थ और हितकर वचन 3-अस्तेय – चोरी का त्याग विचार और कर्म दोनों स्तरों पर 4-ब्रह्मचर्य – इन्द्रिय-संयम और ऊर्जा का संरक्षण 5-अपरिग्रह – संग्रह-वृत्ति का त्याग यम से व्यक्ति में करुणा, विश्वास, सामाजिक सौहार्द और नैतिक दृढ़ता का विकास होता है।

नियम-व्यक्तिगत अनुशासन एवं आत्मशुद्धि नियम वे साधनाएँ हैं, जो व्यक्ति के आंतरिक जीवन को परिष्कृत करती हैं। नियम के पाँच प्रकार—शौच – बाह्य और आंतरिक पवित्रता

संतोष – उपलब्ध में तृप्ति,तप – अनुशासन एवं सहनशीलता,स्वाध्याय – आत्मचिंतन और शास्त्र-अध्ययन,ईश्वर-प्रणिधान – कर्मों को ईश्वर को अर्पित करना। नियम से आत्मसंयम, मानसिक स्थिरता और आध्यात्मिक अभिरुचि का विकास होता है।

आसन- शरीर की स्थिरता और सजगता,आसन का तात्पर्य केवल शारीरिक मुद्राओं से नहीं, बल्कि स्थिर एवं सुखपूर्वक बैठने की अवस्था से है। पतंजलि कहते हैं—"स्थिरसुखमासनम्।" इसका उद्देश्य हैं शरीर को स्वस्थ और सुदृढ़ बनाना।ध्यान के लिए शरीर को सक्षम बनाना।प्राण-प्रवाह को संतुलित करना।

प्राणायाम- प्राण-शक्ति का नियमन करना,प्राणायाम श्वास-प्रश्वास के माध्यम से जीवन-ऊर्जा (प्राण) को नियंत्रित करने की विधि है।इसका उद्देश्य हैं नाड़ियों की शुद्धि मानसिक चंचलता का शमन प्राण-शक्ति का जागरण प्राणायाम से मानसिक शांति, एकाग्रता और भावनात्मक संतुलन प्राप्त होता है।

प्रत्याहार- इन्द्रियों का अंतर्मुखीकरण प्रत्याहार वह अवस्था है, जिसमें इन्द्रियाँ अपने विषयों से हटकर मन के अधीन हो जाती हैं।इसका उद्देश्य हैं बाह्य आकर्षणों से मुक्ति ध्यान की तैयारी आत्मसंयम का विकास प्रत्याहार साधक को बाह्य जगत से भीतर की यात्रा के लिए सक्षम बनाता है।

धारणा-एकाग्रता धारणा में चित्त को किसी एक बिंदु, विचार या प्रतीक पर स्थिर किया जाता है। इसका उद्देश्य हैं चित्त की मानसिक शक्ति का संकेन्द्रण धारणा से स्मरण-शक्ति, स्पष्टता और निर्णय क्षमता बढ़ती है।

ध्यान- अखंड प्रवाह में चेतना की स्थिरता ध्यान धारणा की परिपक्व अवस्था है, जहाँ ध्यान-विषय पर चित्त का प्रवाह निरंतर बना रहता है।इसका उद्देश्य हैं आत्मबोध, मानसिक शुद्धि, आंतरिक शांति, ध्यान से व्यक्ति के व्यक्तित्व में करुणा, समत्व और विवेक विकसित होता है।

समाधि-परम चेतन अवस्था समाधि अष्टांग योग की चरम अवस्था है, जहाँ साधक का अहंकार लय हो जाता है और वह स्वरूप-बोध को प्राप्त करता है। समाधि से जीवन का परम लक्ष्य—मोक्ष या कैवल्य—प्राप्त होता है।अष्टांग योग और व्यक्तित्व-विकास अष्टांग योग मानव-व्यक्तित्व को समग्र रूप से विकसित करता है।

यम–नियम ⟶ नैतिक व्यक्तित्व आसन–प्राणायाम ⟶ स्वस्थ शरीर

प्रत्याहार–धारणा ⟶ संयमित मन ध्यान–समाधि ⟶ जाग्रत चेतना

अष्टांग योग केवल साधकों या संन्यासियों के लिए नहीं, बल्कि आधुनिक मानव के लिए भी उतना ही प्रासंगिक है। यह जीवन को संतुलित, अनुशासित और उद्देश्यपूर्ण बनाता है।आज के तनावग्रस्त और भौतिकतावादी युग में अष्टांग योग शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति और आत्मिक उन्नति—तीनों का एक समन्वित मार्ग प्रस्तुत करता है।

1.5 .5 पंचकर्म- आयुर्वेद केवल रोग-निवारण की चिकित्सा-पद्धति नहीं है, बल्कि यह स्वास्थ्य-संरक्षण और जीवन-शुद्धि का विज्ञान है। आयुर्वेद का मूल उद्देश्य है—दोषों का साम्य, धातुओं की पुष्टि,मल-क्रियाओं की सम्यता तथा मन–बुद्धि–इन्द्रियों की प्रसन्नता।इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयुर्वेद में पंचकर्म का प्रतिपादन किया गया है।'पंचकर्म' शब्द दो भागों से मिलकर बना है—पंच = पाँच कर्म = शोधन क्रियाएँ अर्थात् पंचकर्म वे पाँच विशिष्ट चिकित्सीय प्रक्रियाएँ हैं, जिनके द्वारा शरीर में संचित एवं विकृत दोषों को मूल से बाहर निकालकर शरीर और मन को शुद्ध किया जाता है। 1. पंचकर्म की दार्शनिक पृष्ठभूमि आयुर्वेद के अनुसार रोग का मुख्य कारण है—त्रिदोषों (वात, पित्त, कफ) का असंतुलन। जब दोष शरीर में अधिक मात्रा में संचित हो जाते हैं, तब केवल शमन (औषधि) से रोग का स्थायी निवारण संभव नहीं होता। ऐसी स्थिति में शोधन-चिकित्सा आवश्यक होती है। पंचकर्म का उद्देश्य है दोषों का शोधन (Detoxification)धातुओं और अग्नि का संतुलन रोग की जड़ का उन्मूलन पुनरुत्थान2. पंचकर्म की पूर्व, प्रधान और पश्चात् क्रियाएँ पंचकर्म केवल पाँच क्रियाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक सुनियोजित चिकित्सीय प्रक्रिया है, जिसमें तीन चरण होते हैं। (क) पूर्वकर्म-शरीर को शोधन के लिए तैयार करना स्नेहन (घृत, तेल द्वारा आंतरिक व बाह्य स्निग्धता) स्वेदन (भाप या ऊष्मा द्वारा दोषों को ढीला करना) (ख) प्रधान कर्म मुख्य पाँच शोधन क्रियाएँ (ग) पश्चात् कर्म-संसर्जन क्रम (हल्के आहार द्वारा पाचन शक्ति की पुनर्स्थापना)आचार एवं आहार-नियम पंचकर्म की पाँच मुख्य क्रियाएँ 1. वमन कर्म-कफ-दोष का शोधन वमन में औषधियों की सहायता से नियंत्रित वमन कराया जाता है। 2. विरेचन कर्म-पित्त-दोष का शोधन 3. नस्य कर्म-ऊर्ध्वजत्रुगत दोषों का शोधन नस्य में औषधीय तेल या रस को नासिका मार्ग से दिया जाता है। आयुर्वेद में कहा गया है- "नासा हि शिरसो द्वारम्" 4. पंचकर्म और त्रिदोष–त्रिमल संतुलन पंचकर्म द्वारा-त्रिदोषों का मूल से शोधन होता है मल-क्रियाएँ (पुरीष, मूत्र, स्वेद) सम्यक् होती हैं 5. पंचकर्म और मानसिक-आध्यात्मिक प्रभाव पंचकर्म का प्रभाव केवल शरीर तक सीमित नहीं है। शरीर की शुद्धि से मन हल्का और स्थिर होता है चित्त की मलिनताएँ दूर होती हैं ध्यान और साधना में प्रगति होती है योग-दर्शन के संदर्भ में पंचकर्म को चित्त-शुद्धि की आधारभूमि माना जा सकता है। आधुनिक जीवन में पंचकर्म की प्रासंगिकता आज के युग में असंतुलित आहार मानसिक तनाव, प्रदूषण-अनियमित दिनचर्या के कारण शरीर में विषाक्तता (toxins) बढ़ रही है। पंचकर्म इन समस्याओं का समग्र समाधान प्रस्तुत करता है—रोग के उपचार के साथ-साथ रोग-निवारण का मार्ग भी पंचकर्म आयुर्वेद की आत्मा है। यह केवल चिकित्सा-पद्धति नहीं, बल्कि शुद्धि, पुनरुत्थान और आत्म-संतुलन की प्रक्रिया है।त्रिदोषों की सम्यता, धातुओं की पुष्टि और मन की शुद्धि—इन तीनों के माध्यम से पंचकर्म मानव को स्वस्थ, संतुलित और चेतन जीवन की ओर अग्रसर करता है।

1.5.6 विविध रोग एवं निदान- विविध रोग एवं निदान आयुर्वेद में रोग को केवल शारीरिक विकार के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उसे दोष–धातु–मल–मन–आचार के असंतुलन का परिणाम माना गया है। इसलिए आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में रोग-निदान (Diagnosis) अत्यंत सूक्ष्म, बहुआयामी और व्यक्ति-विशिष्ट होता है। विविध रोग एवं निदान का अध्ययन आयुर्वेद के उस मूल सिद्धांत को स्पष्ट करता है, जिसमें रोग के लक्षणों से अधिक उसके कारण को महत्व दिया गया है।1. रोग की आयुर्वेदिक अवधारणा आयुर्वेद के अनुसार-जब त्रिदोष अपनी स्वाभाविक अवस्था से विचलित होकर धातुओं और मल-प्रणाली को दूषित करते हैं,

तब शरीर में रोग की उत्पत्ति होती है अर्थात् रोग कोई आकस्मिक घटना नहीं, बल्कि दीर्घकालीन असंतुलन की परिणति है।रोग की उत्पत्ति में आहार, विहार, ऋतु, मानसिक स्थिति और पूर्वकर्म—सभी की भूमिका होती है। 2. रोगों का वर्गीकरण (विविध रोग) (क) दोष-आधारित रोग वातज रोग – जैसे संधिशूल, अनिद्रा, कम्प, स्नायु-विकार पित्तज रोग – जैसे दाह, त्वचा-विकार, अम्लपित्त कफज रोग – जैसे कास, श्वास, स्थूलता (ख) द्विदोषज एवं त्रिदोषज रोग जब दो या तीन दोष एक साथ विकृत होते हैं, तब रोग अधिक जटिल और दीर्घकालिक हो जाता है।(ग) धातु-आधारित रोग धातुओं के दूषण या क्षय से उत्पन्न रोग—रस-दुष्टि ⟶ दुर्बलता, रक्त-दुष्टि ⟶ त्वचा रोग, सूजन मांस-दुष्टि ⟶ ग्रंथि, शैथिल्य मेद-दुष्टि ⟶ प्रमेह, स्थूलता अस्थि–मज्जा-दुष्टि ⟶ संधिरोग, स्नायु-दोष शुक्र-दुष्टि ⟶ बल-क्षय, मानसिक हीनता (घ) मल-आधारित रोग पुरीष अवरोध ⟶ उदर-विकार मूत्र विकार ⟶ मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी स्वेद विकार ⟶ त्वचा रोग, ताप-असंतुलन (ङ) मानसिक एवं मनोदैहिक रोगआयुर्वेद में मानसिक रोगों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है—भय, शोक, क्रोध, ईर्ष्या, अवसाद। ये मानसिक अवस्थाएँ शारीरिक रोगों को भी जन्म देती हैं।3. निदान की आयुर्वेदिक प्रक्रिया आयुर्वेद में निदान केवल रोग का नामकरण नहीं, बल्कि रोग की समग्र पहचान है। 4. निदान पंचक आयुर्वेदिक निदान का आधार निदान पंचक है—1. निदान (कारण) रोग उत्पन्न करने वाले कारक—मिथ्या आहार अनुचित दिनचर्या मानसिक असंतुलन ऋतु-विपर्यय 2. पूर्वरूप रोग प्रकट होने से पूर्व दिखाई देने वाले सूक्ष्म संकेत जैसे- अरुचि, आलस्य, भारीपन, मानसिक अस्वस्थता। 3. रूप रोग की स्पष्ट लक्षणात्मक अवस्था— जैसे पीड़ा, ज्वर, श्वास-कष्ट आदि। 4. उपशय–अनुपशय जिससे रोग में लाभ हो उसे उपशय, और जिससे रोग बढ़े उसे अनुपशय कहा जाता है।यह विधि दोष-निर्णय में अत्यंत सहायक होती है। 5. संप्राप्ति रोग की पूर्ण विकास-प्रक्रिया—दोष ⟶ दूष्य ⟶ स्रोतस ⟶ स्थान-विशेष यही रोग की वास्तविक जड़ को स्पष्ट करती है। आधुनिक संदर्भ में आयुर्वेदिक निदान की प्रासंगिकता आधुनिक चिकित्सा में रोग को प्रायः अंग-विशेष तक सीमित किया जाता है, जबकि आयुर्वेद रोगी को समग्र व्यक्तित्व के रूप में देखता है।

1.5.7 आहार और जीवन शैली- आयुर्वेद में आहार और जीवनशैली (विहार) को स्वास्थ्य का मूल आधार माना गया है। औषधि को आयुर्वेद में द्वितीय स्थान प्राप्त है, जबकि आहार और जीवनशैली को प्रथम स्थान दिया गया है। आयुर्वेद का यह स्पष्ट मत है कि संतुलित आहार और अनुशासित जीवनशैली के माध्यम से अधिकांश रोगों की उत्पत्ति को रोका जा सकता है।इस दृष्टि से आहार और जीवनशैली केवल पोषण या दिनचर्या नहीं, बल्कि जीवन जीने की एक चेतन पद्धति हैं।

1. आहार की आयुर्वेदिक अवधारणा आयुर्वेद में आहार को प्राण का स्रोत कहा गया है। शरीर की धातुएँ, ओज, बल और तेज—सभी का निर्माण आहार से ही होता है।(क) आहार का उद्देश्य-शरीर की वृद्धि और पोषण अग्नि का संरक्षण -मानसिक संतुलन रोग-निवारण एवं स्वास्थ्य-संरक्षण आयुर्वेद के अनुसार वही आहार श्रेष्ठ है जो देश, काल, प्रकृति, आयु और अग्नि के अनुरूप हो। 2. आहार के मूल सिद्धांत (क) आहार की मात्रा अधिक या अल्प भोजन दोनों ही रोगकारक हैं।संतुलित मात्रा में लिया गया आहार ही अग्नि को सुदृढ़ करता है। (ख) आहार की गुणवत्ता भोजन ताजा, शुद्ध, स्वाभाविक और सुपाच्य होना चाहिए।बासी, अति-

तला, अत्यधिक मसालेदार या कृत्रिम आहार को आयुर्वेद में त्याज्य माना गया है।(ग) आहार का समय नियत समय पर भोजन करने से पाचन-तंत्र नियमित रहता है। रात्रि में हल्का और शीघ्र पचने वाला आहार श्रेष्ठ माना गया है।(घ) आहार विधि-एकाग्रचित्त होकर भोजन अत्यधिक शीघ्र या विलंब से न खाना भूख लगने पर ही भोजन 3. षड्रस और संतुलित आहार आयुर्वेद में आहार को षड्रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय—से युक्त होना चाहिए।प्रत्येक रस का शरीर पर विशिष्ट प्रभाव होता है और सभी रसों का संतुलन ही पूर्ण पोषण प्रदान करता है।4. जीवनशैली (विहार) की आयुर्वेदिक अवधारणा जीवनशैली का अर्थ है—दैनिक क्रियाओं, मानसिक प्रवृत्तियों और सामाजिक आचरण का सम्यक् संतुलन। (क) दिनचर्या (दिनचर्या) प्रातः शीघ्र जागरण शौच, स्नान, स्वच्छता योग, प्राणायाम नियमित आहार और विश्राम दिनचर्या से शरीर प्राकृतिक जैविक घड़ी के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। (ख) ऋतुचर्या-ऋतु के अनुसार आहार और व्यवहार में परिवर्तन करना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। जैसे—ग्रीष्म में शीतल आहार,शीत ऋतु में उष्ण और स्निग्ध आहार (ग) मानसिक जीवनशैली-मानसिक संतुलन को आयुर्वेद में विशेष महत्व दिया गया है—संयम,संतोष,सकारात्मक चिंतन,भावनात्मक संतुलन 5. आहार, जीवनशैली और त्रिदोष आहार और जीवनशैली का सीधा प्रभाव त्रिदोषों पर पड़ता है।आधुनिक जीवन में आहार और जीवनशैली की प्रासंगिकता आधुनिक जीवन में—फास्ट फूड,अनियमित दिनचर्या,मानसिक तनाव,शारीरिक निष्क्रियता स्वास्थ्य को प्रभावित कर रहे हैं। आयुर्वेदिक आहार और जीवनशैली इन समस्याओं का स्थायी समाधान प्रस्तुत करते हैं आहार और जीवनशैली आयुर्वेद की आत्मा हैं। स्वस्थ जीवन का रहस्य औषधियों में नहीं, बल्कि दैनिक चयन और व्यवहार में निहित है। संतुलित आहार, अनुशासित जीवनशैली और सकारात्मक मानसिकता के माध्यम से व्यक्ति न केवल रोगमुक्त जीवन जी सकता है, बल्कि शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार आहार और जीवनशैली का आयुर्वेदिक दृष्टिकोण आज के युग में उतना ही प्रासंगिक है, जितना प्राचीन काल में था।

1.6 आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ

भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है ।जो अपनी शाखाप्रशाखाओं में भारत में ही नहीं-, अपितु दूसरे देशों में भी फैला हुआ है ।आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है ।आयुर्वेद मानव के लिए एक वरदान है ।आयुर्वेद शब्द आयु के संयोग से बना है वेद दो शब्दों+: ।इसका अर्थ होता है **"आयुषो वेदः"** अर्थात जो आयु का वेद है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिसमें आयु सम्बन्धी विचार हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं ।दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है ।प्राचीन काल से ही आचार्यों ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन माने हैं ।एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना ।सुखमय एवं दीर्घ जीवन की कामना प्रत्येक प्राणी की होती है ।शास्त्रों में मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के सन्तापों से मुक्त होने का मार्ग बताया गया है। लेकिन उनमे वर्णित विधानों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ का होना अनिवार्य है ।स्वास्थ्य का संरक्षण और रोग निवारण का शास्त्र

आयुर्वेद है ।अतः आयुर्वेद सभी शास्त्रों का आधार है ।यह प्राणिमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शास्त्र है ।आयुर्वेद की उत्पति ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि की उत्पति से पूर्व माना गया है ।ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्षप्रजापति ने प्राप्त किया ।दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया ।इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया ।भरद्वाज ने आयुर्वेद का ज्ञान ऋषियों को दिया ।उन महर्षियों में महर्षि आत्रेय प्रथम थे ।आत्रेय ने अपने अपने छः शिष्यों को वह उपदेश दिया ।उस ज्ञान को ग्रहण कर उन्होंने अपनी अपनी संहिताएं रची गई ।उन संहिताओं में अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकर चरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया और **'चरकसंहिता'** के नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई ।आज भी वह प्रथम संहिता मानी जाती है । आचार्य चरक ने आयुर्वेद को अनादि और शाश्वत कहा है ।जिसकी उत्पति नहीं होती उसे अनादि कहा जाता है ।आयुर्वेद की उत्पति नहीं होती, अतः यह अनादि है ।आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है ।वेद नित्य हैं, अतः आयुर्वेद भी नित्य है ।जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है ।आयुर्वेद को जीवन का विज्ञान कहा गयाहै, यह चिकित्सा विज्ञान की दुनिया में भारत का एक महत्वपूर्ण योगदान है । आयुर्वेद मनुष्य को सामाजिक, मानसिक और शारीरिक रोगों से मुक्त करता है,और कैसे व्यवहार करना है, इसका उपदेश देता है ।बीमारियों को कैसे रोका जाये यह सिखाता है । आयुर्वेद के द्वारा बुखार से लेकर कैंसर तक की बीमारियों का उपचार किया जा सकता है एवं वर्तमान समय मे आयुर्वेद का महत्व अत्यधिक बढ़ चुका हैं एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है। आयुर्वेद की ऐतिहासिक पृष्टभूमि वेदों में परिभूषित होती है-

वेदों मे आयुर्वेद - वेद पुरातन काल से ही मनुष्य-सभ्यता के प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं। वेद की परम्परा में रुद्र को प्रथम वैद्य रूप मे स्वीकार किया गया है।'यजुर्वेद' में कहा गया है कि तथा इसी प्रकार ऋग्वेद में भी उल्लिखित है कि 'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि'।और आयुर्वेद ग्रन्थो की परम्परा में ब्रह्मा आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा है।वेदों में अश्विनों और रुद्रदेवता के अतिरिक्त अग्नि, वरुण, इन्द्र,अप् तथा मरुत् को भी 'भिषक्' शब्द से अभिनिहित किया गया है। परन्तु मुख्य रूप से इस शब्द का सम्बन्ध रुद्र और अश्विनौ के साथ ही है। अतः वेद आयुर्वेद शास्त्र के लिए एक महत्त्वपूर्ण संकेतक तथा स्रोत हैं-

ऋग्वेद में आयुर्वेद- आयुर्वेद के महत्वपूर्ण तथ्यों का वर्णन ऋग्वेद में उपलब्ध है। ऋग्वेद में आयुर्वेद का उद्देश्य, वैद्य के गुण-कर्म, विविध औषधियों के लाभ तथा शरीर के अंग और अग्निचिकित्सा, जलचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, विषचिकित्सा, वशीकरण आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है ऋग्वेद में 67 औषधियों का उल्लेख मिलता हैं। अतः आयुर्वेद की दृष्टि से ऋग्वेद बहुत उपयोगी है।

यजुर्वेद में आयुर्वेद- यजुर्वेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित निम्नांकित विषयों का वर्णन प्राप्त होता है : विभिन्न औषधियों के नाम, शरीर के विभिन्न अंग, वैद्यक गुण-कर्म चिकित्सा, नीरोगता, तेज वर्चस् आदि। इसमें 82 औषधियों का उल्लेख दिया गया है।

सामवेद में आयुर्वेद- आयुर्वेद के अध्ययन के रूप में सामवेद का योगदान कम है। इसमें मुख्यत; आयुर्वेद से सम्बन्धित कुछ मन्त्रा में वैद्य, तथा अत्यल्प रोगों की चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में आयुर्वेद- आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी अंगों एवं उपांगों का विस्तृत विवरण मिलता है। अथर्ववेद ही आयुर्वेद का मूल आधार है। अथर्ववेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का वर्णन उपलब्ध है जिनमें से मुख्य है- 'वैद्य के गुण, कर्म या भिषज, भैषज्य, दीर्घायुष्य, बाजीकरण, रोगनाशक विभिन्न मणियां, प्राणचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, वशीकरण, जलचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा तथा विविध औषधियों के नाम, गुण, कर्म आदि।आयुर्वेद को अर्थवेद में 'भेषज' या 'भिषग्वेद' नाम से जाना जाता है।गोपथ ब्राह्मण में भी अथर्ववेद के मंत्रों को आयुर्वेद से सम्बन्धित बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के एक मंत्र की व्याख्या में प्राण को 'अथर्वा' कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि प्राणविद्या या जीवनविद्या आथर्वण विद्या ही है।गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ''अंगिरस् का सीधा सम्बन्ध आयुर्वेद तथा शरीर विज्ञान से है। अंगों के रसों अर्थात् तत्त्वों का वर्णन जिसमें प्राप्त होता है वह अंगिरस् कहा जाता है। अंगों से जो रस निकलता है वह अंगरस है और उसी को अंगिरस् कहा जाता है।अथर्ववेद को वैदिक जगत् में क्षत्रवेद, ब्रह्मवेद, भिषग्वेद तथा अर्घिरोवेद इत्यदि नामों से भी जाना जाता है। स्पष्ट है कि वेदों में आयुर्वेद से सम्बन्धित सैकड़ों मन्त्रों का वर्णन है, जिसमें विभिन्न रोगों की चिकित्सा का उल्लेख है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद - इन चारों वेदों में अथर्ववेद को ही आयुर्वेद की आत्मा माना गया है। अथर्ववेद में स्वस्त्ययन मंगलकर्म, उपवास, बलिदान, होम, नियम, प्रायश्चित और मन्त्र आदि से भी चिकित्सा करने को कहा गया है। अथर्ववेद में सर्वाधिक 289 औषधियों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि आयुर्विषययक औषधियों का विस्तृत विवरण अथर्ववेद में ही पाया जाता है।

बोध प्रश्न—

1. निम्न मे से एक पंचधातु नहीं हैं।

क. जल ख. अग्नि ग. पृथ्वीघ. मिट्टी।

2.जिन अवयवों में किसी एक विशेष कार्य को करने की सूक्ष्म और विशिष्ट शक्ति होती है, उसे क्या कहा जाता है?

क. आत्मा ख. मन ग. शरीर घ. इंद्रिय

3. प्रभाव के आधार पर आयु के कितने प्रकार माने गए हैं?

क.5 ख.8 ग.3 घ. 4

4. किस वेद के अनुसारशरीर, इंद्रिय, मन और आत्मा के समन्वयको आयु कहा जाता है।

क.ऋग्वेद. ख सामवेद ग .आयुर्वेद घ . यजुर्वेद

1.7 सारांश

आयुर्वेद हमें सिखाता है कि हमे जीवन मे योग संबंधी गतिविधि को जीवन मे अपनाकर उसे निरोगी बनाना चाहिए और आयुर्वेद यह भी बताता है कि जीवन शैली को स्वस्थ बनाने के लिए हमे नियमित दिनचर्या का प्रयोग करना चाहिए,आज सुख-सुविधा सम्पन्न होते हुए भी हम विभिन्न प्रकार की शारीरिक बीमारियों और मानसिक समस्याओं के साथ जीवन यापन कर रहे हैं ।आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं ।आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट तो करता ही है ।आज सभी वैज्ञानिकों के आकर्षण का केन्द्र आयुर्वेद बना हुआ है, क्योंकि आयुर्वेद स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगी व्यक्ति को रोग मुक्त करता ही

नहीं बल्कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुखों से हमेशा मुक्त होने का मार्ग दिखाने का कार्य करता है ।आयुर्वेद ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के श्रेय का साधक शास्त्र है ।आयुर्वेद की विशेषताएँ यह है कि- आयुर्वेद पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के मूल कारण आरोग्य का दाता है ।यह दैविक कर्मों के विधि-विधान का ज्ञान कराता है, जैसे आहार-विहार स्नान आदि ।यह मैत्री, करुणा और प्रेम के श्रेष्ठ मार्ग को निर्देशित करता है ।इसमें महामारी जैसे भयंकर रोगों से बचने के उपायों को बताया गया है, अधर्म के परित्याग को बताया गया है, क्योंकि अधर्म को ही सभी रोगों का मूल कारण मान जाता है ।इसमें आचरण का विधान दिनचर्या और ऋतुचर्या के माध्यम से किया गया है । यह शरीर के 'योगक्षेम' कर भावों के पालन के लिए जागरूकता उत्पन्न करता है ।अतःआयुर्वेद ही ऐसा शास्त्र है जो मानव को विविध वेदनाओं के जाल से रोगों से ग्रसित मानव को रोगमुक्त और आरोग्यमय जीवन देता है ।

1.8 शब्दावली

शब्द	अर्थ
शोधन	शुद्ध करना,साफ करना
महामारी	संक्रमित रोग
आरोग्यमय	स्वस्थ एवं तंदरुस्त
अथर्वा	जीवनविद्या एवं प्राणविद्या
अनादि	नित्य,शाश्वत
प्रयोजन	प्रयोग,उपयोग
अपरिवर्तनीय	अटल,कभी न बदलने वाला

1.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.घ

2. घ

3. घ

4. ग

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.त्रिदोष कौन कौन से हैं स्पष्ट कीजिए।

2.आयुर्वेद के तीन प्रमुख ग्रंथ कौन से हैं।

3.आयुर्वेद के अंतर्गत सप्तधातु को स्पष्ट कीजिए।

4.आयुर्वेद के प्रमुख सम्प्रदायों की विवेचना कीजिए।

5.पंच महाभूत सिद्धांत कौन से हैं स्पष्ट कीजिए।

6. आयुर्वेद के अस्तित्व पर प्रकाश डालिए।

7. अष्टांग योग से आप क्या समझते है इसकी विस्तृत समीक्षा कीजिए।

8. आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथो का परिचय देते हुये इनकी विषय वस्तु पर प्रकाश डालिए।

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.आयुर्वेद एवं वनौषधि-प्रो.विरूपाक्ष(महर्षि सांदीपनी राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान,वेदविद्या मार्ग,चिंतामण, उज्जैन।

2.स्वस्थवृत विज्ञान-प्रो रामहर्ष सिंह।

3. आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान-शिवकुमार गौड़

4.आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त-डॉ प्राणजीवनमानेकचन्द मेहता,चौखम्बा संस्कृत सिरीज़,वाराणसी।

5 आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास-आचार्य प्रियव्रत शर्मा,चौखम्बा ओरियंटालिया,वाराणसी।

6. आयुर्वेद मंथन-पंडित शत्रुघ्न शुक्ल,हिन्दी सेवा सदन, मथुरा।

7. चरक संहिता

8. सुश्रुतसंहिता

इकाई. 2 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा
2.4 आयुर्वेद का प्रयोजन
2.5 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास
2.5.1 आयुर्वेद का उद्भव
2.5.2 आयुर्वेद का विकास
2.6 सारांश
2.7 पारिभाषिक शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास से सम्बन्धित है। वेद विश्व-संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। वेदों में ज्ञान विज्ञान का अनन्त भण्डार है। अतः मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है अर्थात वेदों में सभी प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों और उपांगों का यथास्थान विशद् वर्णन हुआ है। वैदिक वाङ्मय वट वृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान और विज्ञान को अन्तर्भूत किए है। चिकित्साशास्त्र का मुख्य उपजीव्य अथर्ववेद है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तृत वर्णन है।आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है। इस इकाई में आप आयुर्वेद का अर्थ, परिभाषा और आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- आयुर्वेद को जान सकेंगे।
- आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा को जानेंगे।
- आयुर्वेद के उद्भव एवं विकास के बारे में जान सकेंगे।
- आयुर्वेद के ज्ञान की अविरल धारा को जान सकेंगे।

2.3 आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा

विश्व में उपलब्ध साहित्यों में 'वेद' सबसे प्राचीनतम् ग्रंथ है। 'वेद' शब्द का अर्थ है- '**विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः**'अर्थात जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाए वही वेद है। वेदों की संख्या चार है– जिनके नाम क्रमशः हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है।आयुर्वेद नित्य, शाश्वत एवं अनादि है।'आयुर्वेद'शब्द आयुः+वेद इन दो शब्दों के संयोग से बना है। इसकी निरुक्ति से इसका अर्थ होता है **'आयुषो वेदः'** अर्थात आयु का वेद है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि- जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है। प्राचीन आचार्यों ने 'आयु' को इस प्रकार परिभाषितकिया है –

शरीरेन्द्रिय सत्त्वामसंयसोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुचयते।। च.सू 1/42

अर्थात शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ और कार्मेन्द्रियाँ, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। पंचमहाभूत विकारात्मक एवं आत्मा के योगायतन को शरीर कहा जाता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ –श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण हैं।

कार्मेन्द्रियाँ –वाणी, हाथ, पैर, मलद्वार और मूत्रमार्ग हैं।

मन उभयात्मक इन्द्रिय है। आत्मा ज्ञान का अधिकरण है।

'चैतन्यानुवर्तनमायुः' अर्थात चैतन्य की स्थिति को आयु कहा जाता है। और अमरकोष में जीवितकाल को आयु कहा है- **'आयुर्जीवितकालः'।**

आचार्यों ने आयु को चार भागों में विभक्त किया है। हितायु, अहितायु, सुखायु और दुःखायु चारों आयुओं का वर्णन जिस शास्त्र में हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद सभी आयुवर्धक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी उपचारों की तथा प्रयोगों की जानकारी देने मे सक्षम है। आयुर्वेद न केवल शरीर-रचना व औषध-संरचना की जानकारी देता है, अपितु भोज्यों के सेवन, पथ्य सेवन, अपथ्य परिहार, जड़ी बूटियाँ, रस, धातुरस इत्यादि के समानता पूर्वक प्रयोग के द्वारा अनेकों असाधारण और असाध्य रोगों के उपचार का ज्ञान भी प्रदान करता है। आयुर्वेद हमे आयु संवर्धन, दीर्घायु, संरक्षण तथा भौतिक शरीर के पुनर्नवीकरण के लिए प्रभावशाली उपकरण भी बताता है।

चार आयुओं का वर्णन-

1. हितायु- जो सबका हित करणे वाला हो, उसकी आयु को हितायु कहा जाता है। जो किसी दूसरे के धन का लोभी न हो, सत्यवादी और शान्तप्रकृति का हो, प्रत्येक कार्य को सोच समझकर करने वाला हो, सावधान रहने वाला, धर्म, अर्थ और काम का बिना किसी विरोध के प्रयोग करता हो, पूज्य जनों की पूजा करता हो, ज्ञानवान् हो, शांति प्रधान हो, वृद्ध जनों की सेवा करने वाला हो और स्मृति शाली हो।

2. अहितायु- हितायु के गुणों से रहित अर्थात विषम गुणों वाला अहितायु है।

3. सुखायु- जो शरीरिक और मानसिक रोगों से रहित हो, उसकी आयु सुखायु कहलाती है। यौवन सम्पन्न हो, बाल-वीर्य-यश-पराक्रम युक्त हो, शास्त्रों का ज्ञाता और व्यवहारज्ञ हो, प्रसन्न और सन्तुष्ट इन्द्रियों से युक्त, समृद्ध और विभन्न प्रकार के उपभोगों से युक्त, जो प्रत्येक सफलता को प्राप्त करने वाला हो और अपनी इच्छानुसार विचार करने वाला हो।

4. दुःखायु-सुखायु के गुणों से रहित अर्थात विपरीत गुणों वाला दुःखायु है।

आयुर्वेद शास्त्र के माध्यम से आयु के स्वरूप और उसकी रक्षा का ज्ञान होता है। हितकर आहार-विहार और आचरण करने से आयु में स्थिरता आ जाती है, अन्यथा अज्ञानतावश असावधानी करने और स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने से आयु का ह्रास होता है अर्थात आयु के रक्षणीय साधनों का उपदेश भी आयुर्वेद द्वारा ही होता है।

2.4 आयुर्वेद का प्रयोजन

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सापद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है। और इसे अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। प्राचीनकाल से ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद के दो प्रयोजनों को माना है- **"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार-प्रश्नं च।"**एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना ।प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या सद् वृत्त तथा त्रिविध उपस्तंभों का पालन आयुर्वेद के अनुसार करना चाहिए। आचार्यों का मत है कि इन उपायों के द्वारा मानव शरीर को क्षेत्ररूपी और बीजरूपी व्याधि उत्पन्न करणे वाले जीवाणुओं से सुरक्षा की जा सकती है। रोग से ग्रसित हो जाने पर रोगी के रोग का निवारण करना आयुर्वेद के दूसरे प्रयोजन के अंतर्गत आता है। प्राचीन

कालीन भारत में मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी जाती थी। **'शतायुर्वै पुरुषः'**। कुछ मनुष्य इससे कम और कुछ अधिक भी जीवित रहते हैं, परन्तु कालान्तर में जब शरीरिक और मानसिक रोगों के कारण जब मानव की आयु का मान घटने लगा तो अल्पायु के भयवश रोगों के निवारण व आयु के मान की रक्षा के लिए जिन उपायों को बताया गया उन संग्रहीत उपायों ने आयुर्वेद का रूप ले लिया।

वाग्भट जी ने आयुर्वेद के प्रयोजन के विषय में लिखा है कि-

आयुकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।।अष्टाङ्ग हृदयम् 1.2

अर्थात् मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि का साधन आयु है। इसलिए आयु चतुष्टय की इच्छा करने वाले को आयुवेद के उपदेशों का आदर करना चाहिए। आयुर्वेद एक ऐसा शास्त्र है जो पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है। वह आरोग्य जीवन प्रदान करता है। क्योंकि रोगी व्यक्ति न तो धार्मिक क्रियाएँ कर सकता है, न धनार्जन कर सकता है, न जीवन की सुख सुविधाओं का आनन्द ले सकता है, न मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, उसका स्वयं का जीवन जीना भी कठिन हो जाता है। लेकिन आयुर्वेद ऐसा शास्त्र है, जो इन पुरुषार्थों को प्राप्त करा सकता है। आयुर्वेद मानव को आरोग्य जीवन प्रदान कराता है और जीवन दान से बढ़कर कोई दान नहीं होता- **'नहि जीवितदानाद्धि विशिष्यते'** (चरकसूत्र)। अतः आयुर्वेद एक पुण्यतम वेद है। ऋग्वेद आदि परलोकहित साधक होने के कारण पुण्य वेद माने जाते हैं, परन्तु आयुर्वेद लोकहित साधक के साथ-साथ परलोकहित साधक तथा आरोग्य को प्रदान करने के कारण महान और धर्मसाधन के कारण पुण्यतम वेद माना गया है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।। च.सू. 1/43

वेद-वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन या यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले विद्वान जब अस्वस्थता को प्राप्त हो जाते हैं तो उनके आर्य अवरुद्ध हो जाते हैं तो उन्हें आरोग्य लाभ के लिए किसी चिकित्सक की शरण में जाना पड़ता था, चिकित्सक के पास जाकर ही पुनः वे अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए समर्थ हो पाते हैं।

2.5 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है। क्योंकि जब से 'आयु' (जीवन) का प्रारम्भ हुआ और जब से जीव को ज्ञान हुआ तभी से आयुर्वेद की सत्ता प्रारम्भ होती है। आचार्य सुश्रुत ने यहाँ तक कहा है कि- ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की जिससे प्रजा उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके। इससे भी आयुर्वेद का शाश्वतत्व सिध्द होता है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से ही आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है।

2.5.1 आयुर्वेद का उद्भव

आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। वेद केवल हमारे धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं, अपितु वे मानव की सभी समस्याओं का समाधान करने वाले ग्रन्थ हैं। इनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद

माना जाता है। अतः आयुर्वेद का वेदों से घनिष्ट सम्बन्ध है। संसार के सभी प्राणियों की इच्छा होती है कि वह सुखमय दीर्घ जीवन जियें। सभी शास्त्र मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दु:खों से निवृत्ति का मार्ग बतलाते हैं, परन्तु उनमें बताए गए नियमों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य आवश्यक है। आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को दो भागों में विभाजित किया गया है-

1. दैवीय उपदेश (ज्ञान)
2. लौकिक उपदेश (ज्ञान)

दैवीय उपदेश- सर्वप्रथम ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया। ब्रह्मा से आयुर्वेद के प्रादुर्भाव आख्यान इस बात का संकेत करता है कि आयुर्वेद अनादि काल से है।दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार तथा इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे या मिथ्या इस विषय में अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। परंतु यह ज्ञात होता है कि की परम्परा तक वह देवलोक तक ही सीमित था। उसका रूप प्रागैतिहासिक था। भारतीय परम्परा में विद्याओं का स्रोत ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर इन्द्र तक माना जाता है। ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की परम्परा दैवीय परम्परा कही जाती है।

लौकिक उपदेश- सतयुग में सभी मानवों का आचार-व्यवहार पवित्र था और पृथ्वी, जल, वायु, देश, काल, औषध और धान्य आदि सभी अपने गुणों से सम्पन्न और समृद्ध थे। सभी प्राणी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह की प्रवृति से युक्त थे। धर्म परायण और सात्विक मनोवृत्ति होने के कारण उनका स्वास्थ्य भी उत्तम था। उनका शरीर निरोग तथा मन, सभी इन्द्रियाँ और अन्तरात्मा प्रसन्न थे। वे बलवान और ओजवान थे। जब प्राणी आलसी होते जा रहे थे। उनमें उत्साह और क्रियाशीलता कम हो रही थी। जीवन की सामग्रियों को संञ्चय करने की प्रवृति जागने लगी और संचय ने लोभ को स्थान दिया। लोगों ने धर्म और सदाचार के मार्ग को छोड़कर एक दूसरे पर आक्रमण कर एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे। इस अधर्म और अनाचार का प्रभाव प्रकृति के उपादानों पर भी पड़ने लगा। पृथ्वी, जल, देश, काल, औषध और खाद्य पदार्थों के गुणों में कमी हो गई। आहार-विहार के दोष से शरीर में अग्नि विषमता, धातुओं में कमी और शारीरिक क्रियाओं में व्यतिक्रम के कारण रोगों ने शरीर पर आक्रमण कर दिया। मानव रोगों से आक्रान्त हो गया। उसकी दिनचर्या अव्यवस्थित हो गई। वह अशान्त और बेचैन हो गया। उसके सभी कार्यों में रोगों ने एक रुकावट ला दी। विविध रोगों से आक्रान्त सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से दुखी होकर दयालु ऋषियों ने हिमालय के समीप एक गोष्ठी का आयोजन किया। इसमें समस्त ऋषि गण पधारे जिसमें अंगिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, आत्रेय, अगस्त्य, विश्वामित्र, मार्कण्डेय, आश्वलायन, परीक्षित, गार्ग्य, कात्यायन, काकायन, हिरण्याक्ष, मैत्रेय आदि अनेक महर्षि उपस्थित हुए। महर्षि ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी, यम-नियम-दम युक्त थे। गोष्ठी में वे इस प्रकार विचार विमर्श करने लगे कि आरोग्य धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन है, परन्तु वर्तमान में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होकर आरोग्य को नष्ट कर रही है। इसलिए इन रोगों की शान्ति के लिए इनसे बचने का उपाय खोजा जाए। यह वृतान्त चरकसंहिता में प्राप्त है-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।
प्रादुर्भूत मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।

कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ।। (च.सू.1/15-16)

रोगों की समस्या के लिए सभी ने विचार विमर्श किया और सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देवराज इन्द्र ही रोगों से बचा सकते हैं, उन्हीं के पास रोगों की शान्ति का उपाय है, परन्तु सभी के सामने यह समस्या थी कि देवराज इन्द्र के पास कौन जाए। इस बात को सुनकर महर्षि भरद्वाज ने कहा कि इस कार्य के लिए मेरी नियुक्ति की जाए- **अहमर्थे नियुज्येऽयमत्रेति प्रथमं वचः । भरद्वाजोऽब्रवीतस्माद् ऋषिभिः स नियोजितः ।** च.सू.1/191

सभी ने एकमत होकर इस बात को स्वीकार कर लिया।

इन्द्र के द्वारा भरद्वाज ऋषि को आयुर्वेद का उपदेश-

भरद्वाज ऋषि इन्द्र के पास गए और तब उन्होंनेमहर्षियों के विचार-विमर्श का सार इन्द्र को सुनाया कि मृत्युलोक में अनेक रोग उत्पन्न हो गए हैं। आप उन रोगों की शान्ति का उपाय बताने की कृपा करें। इसके पश्चात भरद्वाज को पुण्य तथा शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया, जिसके प्रथम ज्ञाता ब्रह्मा थे।

भरद्वाज ऋषि द्वारा उपदेश- भरद्वाज ने जो आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र से प्राप्त किया उसका ज्ञान उन्होंने ऋषियों को दिया। आत्रेय उनमें प्रमुख ऋषि थे।

आत्रेय के शिष्य- भरद्वाज ऋषि से प्राप्त ज्ञान को आत्रेय ने अपने छः शिष्यों को दिया। उनके छः शिष्यों के नाम इस प्रकार है- अग्निवेश, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। उस ज्ञान को ग्रहण करके उन्होंने अपनी-अपनी संहिताएं रची। अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकर चरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया ऑउए वह **'चरकसंहिता'** के नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आज भी वह प्रधान संहिता मानी जाती हैं।

संहिताओं की रचना –आत्रेय के समय का जीवन रोगग्रस्त था और उसके उपचार की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसी काल से आयुर्वेद का लौकिक ज्ञान प्रारम्भ होता है। त्रिस्कन्ध का विस्तार होकर संहिता ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ होने लगी।आयुर्वेद शास्त्र को पृथ्वी पर लाने का श्रेय महर्षि भरद्वाज को जाता है। भरद्वाज ऋषि ने सभी प्राणियों के हित के लिए आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार इस पृथ्वी पर किया और स्वयं भी आरोग्य सम्पन्न दीर्घायु हुए- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम्।'** (च.सू. 1/24)

आत्रेय के दूसरे शिष्यों में भेल हैं, जिनकी भेलसंहिता है, परन्तु यह खण्डित अवस्था में प्राप्त होती है। इसके मुख्य अंश लुप्त और नष्ट हो गये हैं। जूतकर्ण, पराशर और क्षारपाणि रचित संहिताएं भी आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनके उद्धरण यहाँ-वहाँ प्राप्त होते हैं। हारीत द्वारा रचित हारीतसंहिता भी उपलब्ध नहीं है। जो हारीतसंहिता वर्तमान में प्राप्त होती है, वह किसी परवर्ती विद्वान द्वारा रचित प्रतीत होती है। क्योंकि इसकी भाषा शैली में वास्तविकता का अभाव है। आत्रेय के शिष्यों ने आयुर्वेद के ग्रंथों का निर्माण कर उसको विस्तार प्रदान किया है।

आचार्य चरक के अनुसार आयुर्वेदावतरण

चरक संहिता में भरद्वाज का नाम नहीं आया है। आत्रेयआदि ऋषियोंनेसाक्षात इन्द्र से आयुर्वेद के ज्ञान की प्राप्ति की थी- **"हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्य पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः"** इस अंश को कतिपय विद्वान अधिक प्रमाणिक मानते हैं, क्योंकि भरद्वाज का इसमें उल्लेख नहीं है और न इनकी शिष्य परम्परा का। ऋषि गण के ग्राम्यवास और ग्राम्य अन्न गोधूम आदि के कारण उनके शरीर स्थूल और मेदस्वी हो गए। उनकी शरीरिक क्रियाएँ भी मन्द पड़ गई और उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे

अपना दैनिक जीवन का निर्वाह ठीक प्रकार से करने में असमर्थ हो गए। फिर सभी ऋषि गणों ने विचार किया की ग्राम को छोड़कर हिमालय पर जाया जाए। क्योंकि वह अमराधिपति इन्द्र द्वारा सुरक्षित है। यह निश्चय करके भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि हिमालय पर चले गये। इन्द्र ने सभी महर्षियों का स्वागत किया और ग्राम वास को दोषों का मूल कारण बताया। इन्द्र ने कहा कि आपने अपने शरीर की रक्षा करके प्रजा को अनुग्रहीत किया है और आयुर्वेद के ज्ञान का उपयुक्त समय बताया और इसके कारण दो लाभों की प्राप्ति होगी। पहला स्वयं की रक्षा, दूसरा प्रजा की भलाई। यह आयुर्वेद का उपदेश मैंने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दक्ष प्रजापति से और दक्षप्रजापति ने ब्रह्मा से प्राप्त किया है। प्रजा की आयु अल्प है और उसमें जरा एवं अनेक व्याधियाँ हैं इसी कारण तप, दम, नियम, दान, अध्ययन तथा सम्पत्ति का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते । परन्तु आयुर्वेद आयुवर्द्धक, जरा-व्याधि-नाशक, ओजस्, उत्साहवर्धक तथा अमृत के समान है। यह पवित्र ज्ञान है। यह कल्याण एवं रक्षक है। यह उच्चकोटी का ज्ञान है। इसलिए आप इसे पढिए, सुनिए, समझिए और इसका प्रचार-प्रसार करके प्रजा को अनुग्रहीत कीजिए। यह महान वेद है और महर्षियों का ज्ञान है। इन्द्र के इन मधुर वचनों को सुनकर वहाँ उपस्थित महर्षियोंने इन्द्र की वेद की ऋचाओं द्वारा स्तुति की और प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद इन्द्र ने उन महर्षियों को आयुर्वेद रूपी अमृत का ज्ञान दिया और औषधि निर्माण की भी शिक्षा प्रदान की। दिव्य औषधियों से उन्हें परिचित कराया।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेदावतरण

सुश्रुतसंहिता में सृष्टि के पूर्व ही ब्रह्मा के द्वारा आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का उल्लेख है । आयुर्वेदावतरण का आचार्य चरक के समान ही वर्णित क्रम है केवल आत्रेय के स्थान पर धन्वन्तरि का नाम आया है। इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अपने शिष्यों सुश्रुत प्रभृति को इसमें शिक्षित किया।

धन्वन्तरि का आयुर्वेद उपदेश- ब्रह्मा जी ने ब्रह्मसंहिता की रचना की थी। जो कि एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोकों में निबद्ध है। इसके बाद मनुष्यों की आयु कम होने के कारण आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित कर दिया। आयुर्वेद के आठ अंग इस प्रकार से हैं-

1. शल्यतन्त्र 2. शालाक्यतन्त्र 3. कायचिकित्सातन्त्र 4. भूतविद्यातन्त्र

5. कौमारभृत्यतन्त्र 6. अगदतन्त्र 7. रसायनतन्त्र 8. वाजीकरणतन्त्र

आयुर्वेद को इस प्रकार से आठ अंगों में विभक्त किया गया है। धन्वन्तरि जी ने अपने शिष्यों से यह पूछा कि तुम्हें किस तंत्र का ज्ञान प्राप्त करना है ? तब शिष्यों ने उन्हें **शल्यतन्त्र**प्रधान आयुर्वेद का उपदेश देने को कहा। धन्वन्तरि ने **'एवमस्तु'** कहा और उपदेश प्रारम्भ किया।

धन्वन्तरि ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे- रोगी के रोग की मुक्ति और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण।

कश्यपसंहिता-कश्यप मत में भी प्रायः इसी प्रकार का आख्यान है। इसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की उनसे क्रमशः यह ज्ञान दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्र को प्राप्त हुआ। कश्यप, वशिष्ट, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और पुनः अपने पुत्रों और शिष्यों को दिया।

दक्ष प्रजापति से **अष्टांगसंग्रह** में आयुर्वेद के ज्ञान के बारे में इस प्रकार उद्धृत किया है- आत्रेय, धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप आदि महर्षियों ने इन्द्र से ज्ञान प्राप्त किया। **अष्टांगहृदय** और

भावप्रकाश में आत्रेय को इन्द्र से ज्ञान प्राप्ति की बात उद्धृत है। आत्रेय ने अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देकर इस शास्त्र को विस्तार प्रदान किया।

आयुर्वेद के तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं पहला आत्रेय-सम्प्रदाय यह चरक की परम्परा में है। दूसरा धान्वन्तर-सम्प्रदाय यह सुश्रुत परम्परा में है और तीसरा काश्यप सम्प्रदाय यह कश्यप की परम्परा है। लेकिन इनके साथ ही एक पौराणिक परम्परा भी प्राप्त होती है जिसे **'भास्करसम्प्रदाय'** कहा जाता है। चारों वेदों को देखकर प्रजापति ने चिन्तन किया और अन्य आयुर्वेद नामक पंचम वेद का निर्माण किया इसी वेद को भास्कर नाम दिया। भास्कर ने इसी के आधार पर एक स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया जो **'भास्करसंहिता'** कहलाई। अपने 16 शिष्यों को भास्कर ने आयुर्वेद का ज्ञान दिया और उन्होंने भी अपनी-अपनी संहिताएँ रची। इनका विवेचन पुराणों में प्राप्त होता है। भास्कर के शिष्य और उनके ग्रन्थ निम्नलिखित है-

1. धन्वन्तरि - चिकित्सातत्त्वविज्ञान।
2. दिवोदास - चिकित्सादर्पण।
3. काशिराज - चिकित्साकौमदी।
4. अश्विनीकुमार - चिकित्सासारतन्त्र।
5. नकुल - वैद्यकसर्वस्व।
6. सहदेव - व्याधिसिन्धुविमर्दन।
7. यम - ज्ञानार्णव।
8. च्यवन - जीवदान।
9. जनक - वैद्यसन्देहभंजन।
10. बुध - सर्वसार।
11. जाबाल - तन्त्रसार।
12. जाजलि - वेदाङ्गसार।
13. पैल - निदान।
14. कवथ - सर्वधर।
15. अगस्त्य - द्वैधनिर्णयतन्त्र।

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। इसका ज्ञान सर्वदा रहा है। ब्रह्मा को आयुर्वेद का ज्ञान था और क्रमशः यह देवलोक से मृत्युलोक पर इसका प्रचार हुआ। ऋषियों की स्वाध्याय परम्परा में अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण ये चार अवस्थाएँ मानी थी। ज्ञान इन चार स्तरों के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त करता है। आयुर्वेद रूपी ज्ञान गङ्गा हमेशा प्रवाहित रही है और अनेक स्रोतों से इसमें ज्ञानवारि की धारा का मिश्रण हुआ है। मानव को जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब वह स्वस्थ और निरोग हो और उसका ज्ञान हमें आयुर्वेद से ही प्राप्त हो सकता है।

2.5.2 आयुर्वेद का विकास

आयुर्वेद आनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्मा के मुख से निर्गत आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है। भारतीय वाङ्मय में ब्रह्मा को सर्वज्ञानमय माना है। ब्रह्मा को ही सभी संहिताओं और संग्रह ग्रन्थों में आयुर्वेद का प्रथम उपदेश देने वाला बताया गया है। सर्वप्रथम आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा ने दिया ऐसा बताया गया है और उनका प्रथम ग्रन्थ

ब्रह्मसंहिता था। ब्रह्मा ने दक्ष प्रजापति और सूर्य अर्थात भास्कर को आयुर्वेद का उपदेश दिया। जिसके कारण दो परम्परायें विकसित हुई। एक दक्ष परम्परा और दूसरी भास्कर परम्परा। दक्ष परम्परा को सिद्धान्त पक्ष की प्रधान थी और भास्कर परम्परा में चिकित्सा की प्रधानता थी। ब्रह्मा जी से अश्विनीकुमारों ने भी आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की। यह वर्णन गदनिग्रह ग्रन्थ में प्राप्त होता है-

'अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा ब्रह्म वचनमब्रवीत्'

पश्चात् अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया, ऐसा चरकसंहिता और आयुर्वेद के दूसरे ग्रन्थों में वर्णित है-**अश्विनीभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे हि केवलम्** (च.सू.1)

चरकसंहिता में कहा गया है कि इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन भरद्वाज तथा भृगु, अंगिरा आदि दस ऋषियों ने किया था। काश्यपसंहिता के अनुसार इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु इन ऋषियों को उपदेश दिया। सुश्रुतसंहिता में वर्णन आता है कि इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया-**इन्द्रादहम्।**

भरद्वाज नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। बार्हस्पत्य भरद्वाज दीर्घायु से सम्पन्न थे। उनकी आयु अमित थी। उनको अमितायु भी कहा जाता था- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाज सुखान्वितः'** (च.सू. 1/26) भरद्वाज से आत्रेय ने और आत्रेय से अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः शिष्यों ने आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। इसके पश्चात इन आचार्यों ने अपनी-अपनी अलग संहिताओं की रचना की। अग्निवेशसंहिता ही चरकसंहिता है और यही आयुर्वेद का प्रमुख और प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चरक द्वारा अग्निवेशसंहिता का प्रतिसंस्कार किया गया है और इसमें कुछ नए अंशों को समाहित किया गया। चरक के नाम पर ही आगे चलकर इसका नाम चरकसंहिता प्रसिद्ध हुआ।अन्य आचार्यों की संहिता प्राप्त नहीं होती है। एक भेल संहिता है, वह भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है और जो हारीतसंहिता है वह अन्य किसी की रचना है। क्योंकि उसकी भाषा, विषय और शैली संहिता ग्रन्थों से भिन्न है। आयुर्वेद की परम्परा का थोड़ा बहुत अन्तर तो सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु सभी ने आयुर्वेद का आदि आचार्य और प्रवर्तक ब्रह्मा को ही माना है। आयुर्वेद का उदय वैदिक काल से ही प्रकट होता है। इस प्रकार यह आयुर्वेद गङ्गा वैदिक काल से ही विशाल और गम्भीर प्रवाह में बहती है तथा परवर्ती आचार्यों के विचारों की गङ्गा को अपने अंदर समाहित करके सम्पूर्ण विश्व में लम्बे समय से जन-जन के जीवन में व्याप्त है। आयुर्वेद का प्रभाव चिकित्सा जगत में सार्वभौम था और विश्व की सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों ने बहुत आयुर्वैदिक विषयों को ग्रहण किया है।प्राचीन आचार्यों ने अनेक संहिता ग्रन्थों की रचना की। उनमें से सभी वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। आयुर्वेद के मूल आचार्य अश्विनीकुमार, इन्द्र तथा भरद्वाज थे। इन्हीं की परम्परा में धन्वन्तरी, आत्रेय, कश्यप और भेड आदि ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश दिया और चिकित्साशास्त्र में पूर्व के आचार्यों के मतों को निर्देशित किया गया है। सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने निबंधसार-संग्रह की रचना की है। इन्होंने सुश्रुत के सहपाठी कांकायन का उल्लेख किया है। आत्रेय के द्वारा वाह्लीक देश के श्रेष्ठ वैद्या के रूप में काकायन का नाम निर्देशित किया है- **'वाह्लीकभिषकया वाह्लीभिषजों वरः'** इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कांकायन दूसरे देश के होते हुए भी भारतीय वैद्यों के साहचर्य में थे। ये वाह्लीक देश के मुख्य वैद्य और दिवोदास के शिष्य थे। इससे यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचलन भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी था। अतः दूसरे देशों के विद्यार्थी आयुर्वेद की

शिक्षा हेतु यहाँ आया करते थे। संभवतः हिरण्याक्ष, पैङ्गल्य आदि आचार्य विदेशी होते हुए भी उनका संपर्क भारतीय चिकित्सकों के साथ था । इसलिए उनके मतों का सम्मान करते संहिताकारों ने अपने ग्रन्थों में निर्देशित किया है। धन्वन्तरि के शिष्यों के नामों से भी यह ज्ञात होता है कि अन्य देशों से अध्ययन हेतु यहाँ आए थे। उनके शिष्य औपधेनेव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य और गोपुरक्षित हैं । भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है। जो अपनी शाखा-प्रशाखाओं में भारत में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में फैला हुआ है। आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद मानवके लिए एक वरदान है।

2.6 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने आयुर्वेद का अर्थ, परिभाषा और उद्भव एवं विकास का भली-भाँति अध्ययन किया। आपने जाना कि आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। आयुर्वेद विद्वानों द्वारा सम्मानित पुण्यतम वेद है। आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है। अतः आयुर्वेद को 'पुण्यतम वेद' की संज्ञा दी गई है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥ च.सू. 1/43

सुश्रुत, चरक, वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है। **'आयुषः पालनं वेदमुपवेदमथर्वणः'** । वेदाङ्ग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। क्योंकि स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष का मूल कारण है। सृष्टि के प्रारम्भ में जो नियम प्रयोग किये जाते थे। वे आज भी मान्य हैं, आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं के आधार पर विश्व चिकित्सा पद्धति में अपना स्थान बनाए हुए है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोक कल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है।

2.7 पारिभाषिक शब्दावली

- सिद्धान्त - निश्चित मत
- चिकित्सा - उपचार, इलाज़
- नष्ट - चौपट, नाश
- संहिता - संयोग, संग्रह, संकलन
- समाहित - व्यवस्थित रूप में एकत्र किया हुआ।
- शाश्वत - सदा रहने वाला, जो कभी नष्ट न हो

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1. आयुर्वेद किस वेद का उपवेद है ?

(क) ऋग्वेद

(ख) यजुर्वेद
(ग) सामवेद
(घ) अथर्ववेद

2. चिकित्सातत्त्वविज्ञान ग्रन्थ के आचार्य हैं।
(क) धन्वन्तरि
(ख) भरद्वाज
(ग) आत्रेय
(घ) चरक

3. 'पुण्यतम वेद' कहा जाता है।
(क) ऋग्वेद
(ख) आयुर्वेद
(ग) सामवेद
(घ) अथर्ववेद

4. हितायु के गुणों से रहित अर्थात विषम गुणों वाला है।
(क) दुखायु
(ख) सुखायु
(ग) अहितायु
(घ) हितायु

5. आयुर्वेद का आदि आचार्य और प्रवर्तक माना जाता है।
(क) ब्रह्मा
(ख) चरक
(ग) इन्द्र
(घ) अश्वनीकुमार

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. सुश्रुतसंहिता के टीकाकार ---------- ने निबंधसार-संग्रह की रचना की है।
2. आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को ---------- भागों में विभाजित किया गया है।
3. ब्रह्मा जी ने ---------- की रचना की थी। जो कि एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोकों में निबद्ध है।
4. सुखायु के गुणों से रहित अर्थात विपरीत गुणों वाला ---------- है।
5. प्राचीनकाल से ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद के -------- प्रयोजनों को माना है

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. 1 घ, 2 क, 3 ख, 4 ग, 5 क
2. 1 डल्हण, 2 दो, 3 ब्रह्मसंहिता, 4 दुखायु, 5 दो

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त।
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास।

3. चरक संहिता।

4. सुश्रुतसंहिता।

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।

इकाई. 3 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ
3.3.1 आयुर्वेद का परिचय
3.3.2 आयुर्वेद की विशेषताएँ
3.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख सम्प्रदाय
3.3.4 आचार्य चरक – चरकसंहिता
3.3.5 आचार्य सुश्रुत – सुश्रुतसंहिता
3.3.6 आचार्य वाग्भट –अष्टाङ्गसंग्रह
3.3.7 आचार्य माधव – माधवनिदान
3.3.8 आचार्य शार्ङ्गधर – शार्ङ्गधरसंहिता
3.3.9 आचार्य भावमिश्र–भावप्रकाश
3.3.10 आचार्य चक्रपाणि दत्त–आयुर्वेद दीपिका
3.11 सारांश
3.12 पारिभाषिक शब्दावली
3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.15 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई 'आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ' से सम्बन्धित है। आयुर्वेद को पूर्वाचार्यों ने अथर्ववेद का उपवेद माना है । आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत (नित्य) कहा है। सर्वविदित है कि आयुर्वेद रूपी ज्ञान गङ्गा की अविरल धारा गुरु शिष्य परम्परा के माध्यम से ही इस धरा तक पहुंची है । संसार के समस्त प्राणियों की इच्छा होती है कि वह सुखमय एवं दीर्घ जीवन जियें, यह तभी सम्भव है जब वे स्वस्थ रहेंगे, इसलिए उन्हें आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए क्योंकि आयुर्वेद स्वास्थ्य संरक्षण और रोग मुक्ति का शास्त्र है। आयुर्वेद को सभी शास्त्रों का आधार भी कहा जाता है, यह सुखमय दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला शास्त्र है । आयुर्वेद के ज्ञान को जन मानस तक पहुँचाने में विभिन्न आचार्यों का योगदान रहा है। आयुर्वेद के उन्हीं प्रमुख आचार्यों से परिचय करवाना इस इकाई का ध्येय है ।

3.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- आयुर्वेद के अस्तित्व को जाना सकेंगे ।
- आयुर्वेद की विशेषताओं को जान सकेंगे ।
- आयुर्वेद के महत्व से परिचित होंगे ।
- आयुर्वेद के प्रमुख आचार्यों से परिचित होंगे ।
- आयुर्वेद के ज्ञान की अविरल धारा को जान सकेंगे ।

3.3 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

आयुर्वेद को जीवन का विज्ञान कहागयाहै, यह चिकित्सा विज्ञान की दुनिया में भारत का एक महत्वपूर्ण योगदान है । आयुर्वेद मनुष्य को सामाजिक, मानसिकऔरशारीरिक रोगों से मुक्त करता है,और कैसे व्यवहार करना है, इसका उपदेश देता है । बीमारियों को कैसे रोका जाये यह सिखाता है । आयुर्वेद के द्वारा बुखार से लेकर कैंसर तक की बीमारियों का उपचार किया जा सकता है ।

आयुर्वेद का अस्तित्व-

भारत में मानव स्वास्थ्य की सुरक्षा और रोग मुक्ति के लिए चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं । जैसे- यूनानी, एलोपैथी, बायोकैमिक, रेडियोथिरेपी आदि । इनसे मानव को स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त हुआ है, और इनके विद्वानों की संख्या भी नित्यप्रति बढ़ती जा रही है। किन्तु प्राचीनता, शोध, प्रयोग और इस देश के निवासियों से प्राकृतिक रूप से अनुकूलता की दृष्टि से आयुर्वेद प्रणाली का स्थान सर्वोच्च है । आयुर्वेद भारत की अपनी मौलिक देना है । आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रमाणिकता और परिणाम की निश्चयात्मक स्थिति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शंका अथवा विवाद नहीं है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति मानव शरीर द्वारा ही सम्भव है । अत: शरीर को स्वस्थ और निरामय रखना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है, **"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।"**शरीरको स्वस्थ एवं निरोगी रखने के लिए जीवन में आयुर्वेदउपयोगि सिद्ध होता है । जो शास्त्र आयु का ज्ञान कराता है, उसे आयुर्वेद कहते

हैं। आयुर्वेद लक्षणों द्वारा सुख-दुख, हित-अहित, प्रमाण और अप्रमाण द्वारा आयु का उपदेश करता है। मनुष्य की सबसे पहली इच्छा होती है कि वह आरोग्य रहे। आरोग्यता ही मनुष्य जीवन की सार्थकता बतलाती है। आरोग्य रहकर ही मनुष्य अपना लौकिक और पारलौकिक कर्त्तव्य पूरा करने में समर्थ होता है। पूर्ण आयुष्य और दीर्घायुष्य प्राप्ति उसे ही होती है जो निरोग और सशक्त हैं तथा सब प्रकार के कर्त्तव्य पालन करने में समर्थ हैं। शरीर और जीवात्मा के संयोग का नाम जीवन है तथा उस जीवन की उपस्थिति ही आयुष्य है। आरोग्य के लिए आयुर्वेद के उपदेशों को विधिपूर्वक निर्वाह करना मनुष्य मात्र का प्रथम कर्त्तव्य है। आरोग्य के बिना पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य वाग्भट्ट कहते हैं- **आयु:कामयमानेन धर्मार्थ सुख साधनम्। आयुर्वेदोपदेषुविधेयः परमादरः ।।**इसलिए मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए, दीर्घ जीवन के लिए तीन प्रमुख उपायों का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए। १ आहार, २ निद्रा, ३ ब्रह्मचर्य। शरीर और स्वास्थ्य के सन्दर्भ में जितना प्राचीन, प्रामाणिक, पुष्ट और तर्क संगत विवेचन के साथ विस्तृत साहित्य आयुर्वेद के पक्ष में प्राप्त है, उतना और किसी विज्ञान या चिकित्सा प्रणाली के सम्बन्ध में नहीं पाया जाता।

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।

आयुर्वेद न केवल मनुष्य के शारीरिक धातु, अग्निसाम्य के मापदण्ड का ही ध्यान रखता है, अपितु वह मनुष्य को आत्म, इन्द्रिय एवं मन से भी प्रसन्न रखता है। तभी सही अर्थों में मनुष्य को स्वस्थ कहा जा सकता है। आज सुख-सुविधा सम्पन्न होते हुए भी हम विभिन्न प्रकार की शारीरिक बीमारियों और मानसिक समस्याओं के साथ जीवन यापन कर रहे हैं। आज संसार के अत्याधुनिक जीवन यापन करने वालों में लगभग ६० से ७०% व्यक्ति ब्लडप्रेशर (हाइपर टेंशन) डायबिटीज, मेंटल स्ट्रेस आदि व्याधियों से ग्रस्त हैं। ऐसे में उत्तम स्वास्थ्य हेतु आयुर्वेद की जीवन में कितनी उपयोगिता है यह देखा जा सकता है। हमारे यहाँ वैदिक मन्त्रों में ईश्वर से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य तथा मन को शुभ संकल्पों से युक्त बनाने की प्रार्थना की गई है- **ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**॥आयुर्वेद में स्वास्थ्य से अभिप्रायशारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तीनों ही प्रकार से स्वस्थ रहने से है।

3.3.1 आयुर्वेद का परिचय

भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है। जो अपनी शाखा-प्रशाखाओं में भारत में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी फैला हुआ है। आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद मानव के लिए एक वरदान है। आयुर्वेद शब्द आयु:+वेद दो शब्दों के संयोग से बना है। इसका अर्थ होता है **"आयुषो वेदः"** अर्थात जो आयु का वेद है। आयु और वेद इन दोनों शब्दों को अलग-अलग जानकर आयुर्वेद शब्द का अर्थ जानना सरल हो जाता है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिसमें आयु सम्बन्धी विचार हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। प्राचीन काल से ही आचार्यों ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन माने हैं। एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य

की रक्षा करना और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना। सुखमय एवं दीर्घ जीवन की कामना प्रत्येक प्राणी की होती है। शास्त्रों में मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के सन्तापों से मुक्त होने का मार्ग बताया गया है। लेकिन उनमे वर्णित विधानों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ का होना अनिवार्य है। स्वास्थ्य का संरक्षण और रोग निवारण का शास्त्र आयुर्वेद है। अतः आयुर्वेद सभी शास्त्रों का आधार है। यह प्राणिमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शास्त्र है। आयुर्वेद कीउत्पति ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि की उत्पति से पूर्व माना गया है। ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्षप्रजापति ने प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया। इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया। भरद्वाज ने आयुर्वेद का ज्ञान ऋषियों को दिया। उन महर्षियों में महर्षि आत्रेय प्रथम थे। आत्रेय ने अपने अपने छः शिष्यों को वह उपदेश दिया। उस ज्ञान को ग्रहण कर उन्होंने अपनी अपनी संहिताएं रची। उन संहिताओं में अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकरचरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया और **'चरकसंहिता'** के नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आज भी वह प्रथम संहिता मानी जाती है ।आचार्य चरकने आयुर्वेद को अनादि और शाश्वत कहा है। जिसकी उत्पति नहीं होती उसे अनादि कहा जाता है। आयुर्वेद की उत्पति नहीं होती, अतः यह अनादि है। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। वेद नित्य हैं, अतः आयुर्वेद भी नित्य है। जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है।

3.3.2 आयुर्वेद की विशेषताएँ

आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्मा के मुख से प्रकट आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है और उसकी रक्षा कर रहा है। आयुर्वेद न केवल प्राचीन विद्या है, अपितु यह अनादि और शाश्वत शास्त्र है। चरक ने आयुर्वेद को इस प्रकार कहा है- **"त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यम्"** आयुर्वेद के शाश्वत पक्ष को चरक ने माना है। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद का वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्वानों ने आयुर्वेद को **"पुण्यवेद"** की संज्ञा दी है। आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है।

तस्यायुषो पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥

आचार्य कश्यप ने आयुर्वेद को पञ्चम वेद माना है, क्योंकि आयुर्वेद वेद पर ही आश्रित है। किसी भी वेद या वेदांग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। अतः आयुर्वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है। आयुर्वेद निरोगी जीवन देने वाला है। आयुर्वेद आयु के विज्ञान का शास्त्र है। विज्ञान जगत को पञ्चभौतिक मानता है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त, पञ्चमहाभूत, त्रिदोष, रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि सभी का आधार विज्ञान है। क्षार के संयोग से अम्ल उदासीन हो जाता है। इस आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त को चरकसंहिता में हजारों साल पहले कहा गया है- **"क्षारं हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लद्रव्योपसंहितः"**। सृष्टि के प्रारम्भ में जो नियम प्रयोग किए जाते थे, वे आज भी

मान्य हैं। आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं के आधार पर विश्व चिकित्सा पद्धति में अपना स्थान बनाए हुए है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है। आज सभी वैज्ञानिकों के आकर्षण का केन्द्र आयुर्वेद बना हुआ है, क्योंकि आयुर्वेद स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगी व्यक्ति को रोग मुक्त करता ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुखों से हमेशा मुक्त होने का मार्ग दिखाने का कार्य करता है। आयुर्वेद ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के श्रेय का साधक शास्त्र है। आयुर्वेद की विशेषताएँ यह है कि- आयुर्वेद पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के मूल कारण आरोग्य का दाता है। यह दैविक कर्मों के विधि-विधान का ज्ञान कराता है, जैसे आहार-विहार स्नान आदि। यह मैत्री, करुणा और प्रेम के श्रेष्ठ मार्ग को निर्देशित करता है ।इसमें महामारी जैसे भयंकर रोगों से बचने के उपायों को बताया गया है, अधर्म के परित्याग को बतायागया है, क्योंकि अधर्म ही सभी रोगों का मूल कारण है। इसमें आचरण का विधान दिनचर्या और ऋतुचर्या के माध्यम से किया गया है। यह शरीर के 'योगक्षेम' कर भावों के पालन के लिए जागरूकता उत्पन्न करता है। अतःआयुर्वेद ही ऐसा शास्त्र है जो मानव को विविध वेदनाओं के जाल से, रोगों से ग्रस्त मानव को रोगमुक्त और आरोग्यमय जीवन देता है।

3.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख सम्प्रदाय

आयुर्वेद तीन सम्प्रदायों में विभाजित है ।पहला आत्रेय सम्प्रदाय, दूसरा धान्वन्तर सम्प्रदाय, तीसरा काश्यप सम्प्रदाय ।ये आयुर्वेद शास्त्र के तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

1. **आत्रेय सम्प्रदाय-** इस सम्प्रदाय में अग्निवेश आदि आचार्यों ने अपनी संहिताएं लिखी हैं। इस सम्प्रदाय की संहिता कायचिकित्सा प्रधान है।
2. **धान्वन्तर सम्प्रदाय-** इस सम्प्रदाय में सुश्रुत आदि आचार्यों ने अपनी संहिताएं लिखी हैं। इस सम्प्रदाय की संहिता शल्यतन्त्र प्रधान है।
3. **काश्यप सम्प्रदाय-** इस सम्प्रदाय में काश्यप आदि आचार्यों ने अपनी संहिताएं लिखी हैं। इस सम्प्रदाय की संहिता कौमारकृत्य प्रधान है।

इन संहिताओं से पहले भी ब्रह्मसंहिता, इन्द्रसंहिता तथा भास्करसंहिता के अस्तित्व का उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन ये संहिताएं ग्रन्थ रूप में निबद्ध नहीं थी। प्राचीनकाल में आयुर्वेद की अनेक संहिताओं की रचना विभिन्न महर्षियों के द्वारा हुई। उन संहिताओं का ज्ञान परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के द्वारा होता है। आचार्य आत्रेय और आचार्य धान्वन्तर सम्प्रदाय के आचार्यों ने आयुर्वेद के समस्त विषयों का संकलन संहिता के रूप में किया है।

3.3.4 आचार्यचरक–चरकसंहिता

आचार्य चरक का काल लगभग ३०० से २०० ई० पू० माना जाता है। आचार्य चरक आयुर्वेद के मर्मज्ञ एवं महर्षि के रूप में प्रसिद्ध हैं। वाग्भट्ट प्रथम ने आचार्य चरक को स्पष्टतः उद्धृत किया है। शाकों के सम्प्रदाय में चरक का नाम प्रचलित था और उन्ही में से एक कनिष्क का वैद्य था। आचार्य चरक का सम्भवतः नागवंश था एवं इनका काल गुप्त वंश के शासन काल का रहा है। यह यायावर प्रकृति के व्यक्ति थे, अर्थात विचरण करने वाले। विचरण करके इन्होंने विभिन्न वनस्पति जन्य औषधियों का निर्माण कर उनको शास्त्र में लिखा, इनके द्वारा लिखित आयुर्वेद का प्रसिद्ध शास्त्र चरकसंहिता है। चरकसंहिता के आदि आचार्य अग्निवेश हैं, इन्होंने आत्रेय के उपदेशों का सूत्र रूप में संकलन किया, यह पहला स्तर है। दूसरे स्तर में चरक ने अग्निवेशतन्त्र

को भाष्य के रूप में विस्तृत किया। इसके बाद दृढ़बल ने जिस अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया वह अधूरा था। उसमें चिकित्सास्थान के तीस के स्थान पर तेरह अध्याय थे। कल्पस्थान और सिद्धिस्थान भी नहीं था । चिकित्सास्थान के सत्रह आध्यायों में कल्पस्थान और सिद्धिस्थान को जोड़कर ग्रन्थ को पूर्ण किया। इस प्रकार आदि आचार्य अग्निवेश, दूसरे संस्कर्ता चरक और तीसरे प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल से प्रतिसंस्कारिता 'चरकसंहिता' का वर्तमान स्वरूप सामने आया। दृढ़बल के प्रतिसंस्करण के बाद यह प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई यह तृतीय स्तर है। चरकसंहिता आत्रेय सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। इसमें कायाचिकित्सा का मुख्य रूप से उल्लेख किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जिस समय शैशवावस्था में था। उस समय चरकसंहिता में प्रातिपादित आयुर्वेदीय विषयों से सम्पूर्ण संसार प्रभावित एवं आश्चर्यचकित था। आयुर्वेदीय बृहत्त्रयी में चरकसंहिता का प्रथम स्थान है। वाग्भट्ट ने भी चरकसंहिता को प्रथम स्थान दिया है। आचार्य चरक की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा है। चरक का कहना है कि औषधी रोग को दबाने के लिए नहीं अपितु प्रकृति को सहायता देने के लिए प्रयुक्त होती है। आचार्य चरक द्वारा उद्धृत 'स्वभावोपरमवाद' प्राकृतिक चिकित्सा का मूल है। रोगों की रोकथाम और उपचार के अतिरिक्त उस समय महर्षियों का ध्यान वयः स्थापन और दीर्घायुकी ओर विशेष रूप से था। आयुर्वेदीय द्रव्यगुण को वैज्ञानिक आधार शिला पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य चरक को प्राप्त है । षट्पदार्थों,रसगुण वीर्यविपाक आदि, द्रव्यों का रचनानुसार तथा कर्मानुसार वर्गीकरण सर्वप्रथम चरकसंहिता में प्राप्त होता है । औषधों के नामरूप ज्ञान के साथ प्रयोगज्ञान पर भी जोर दिया गया है। चरकसंहिता पर आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं- भट्टारकहरिश्चन्द्र ने चरकन्यास, स्वामिकुमार ने चरकपंजिका, जेज्जट ने निरन्तरपदव्याख्या, चक्रपाणि ने आयुर्वेददीपिका, शिवदाससेन ने तत्वचन्द्रिका, गङ्गाधरराय ने जल्पकल्पतरु, योगिन्द्रनाथसेन ने चरकोपस्कार, ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने चरकप्रदीपिका टीका लिखी है। चरकसंहिता का अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

3.3.5 आचार्य सुश्रुत – सुश्रुतसंहिता

आचार्य सुश्रुत को शल्य तन्त्र का जनक कहा जाता है। आचार्य सुश्रुत ने दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को अपनी संहिता में निबद्ध किया। यह शल्यतन्त्र का उपजीव्य ग्रन्थ है। इतिहासकारों ने इनका काल १० वीं शती के बाद माना है। महाभारत के अनुशासन पर्व (अ.४) में और गरुड़पुराण (अ.१३९/८-११) में आचार्य सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बताये गये हैं। सुश्रुतसंहिता में अध्यायों की संख्या १२० है। प्राचीन संहिताओं में इतने अध्याय ही प्राप्त होते हैं। इसके अतरिक्त उत्तरतन्त्र में ६६ अध्याय हैं । इसमें शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या का वर्णन है । सुश्रुतसंहिता भी चरकसंहिता के समान ही आयुर्वेद के विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ है। प्राचीन संहिताओं में चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता ये दो संहितायें ही प्राप्त होती हैं। सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है ।यह शल्यसम्प्रदाय का प्राप्त प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसका चिकित्साविज्ञान चरक की अपेक्षा अधिक व्याहवारिक और प्रायोगिक है ।सुश्रुतसंहिता में यन्त्रशस्त्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मूढगर्भ, अश्मरी, अर्श आदि में शस्त्रकर्म को बताया है। सुश्रुतसंहिता में सर्वप्रथम शवच्छेद का वर्णन प्राप्त होता है। हृदय को काटकर उसके चार प्रकोष्ठों का वर्णन प्राप्त होता है। अत: आचार्य सुश्रुत शल्यतन्त्र के साथ-साथ शरीरशास्त्र के भी जनक माने जाते हैं। सन्धान शल्य (Plastic Surgery) का भी सुश्रुतसंहिता में वर्णन है।

चिकित्सा के सभी अंगों के साथ, कुमारागार और सूतिकागार भी वर्णित है । आत्ययिक (Emergency) की अनेक अवस्थाओं उष्णवातातपदग्ध, शीतवर्षनिलहत धूमोपहत आदि का वर्णन है। सुश्रुतसंहिता आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। विशेषतः शल्यतन्त्र के क्षेत्र में इसके अवदान अपूर्व एवं ऐतिहासिक हैं ।सुश्रुतसंहिता की संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में टीकायें लिखी गई हैं । संस्कृत में कुछ टीकायें इस प्रकार से हैं- गयदास की बृहद् पञ्जिका या न्यायचन्द्रिका, चक्रपाणिदत्त की भानुमती, डल्हण की निबन्धसंग्रह, हाराणचन्द्र की सुश्रुतार्थसंदीपन टीका। सुश्रुतसंहिता का लैटिन, जर्मन, अरबी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। भारत में मराठी, बंगाल आदि में भी अनुवाद हुआ है।

3.3.6 आचार्य वाग्भट –अष्टाङ्गसंग्रह

आचार्य वाग्भटका काल लगभग पाँचवीं शती के आस-पास माना जाता है ।अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टांग हृदय नामक आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थों के यह रचयिता हैं। इन्होंने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका में इस प्रकार दिया है- **"इति श्री सिंहगुप्तसुनुवाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितामुत्तरस्थानं समाप्तम् ।** इससे यह पता चलता है कि इनका जन्म सिन्धु प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम सिन्धुगुप्त था। इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से प्राप्त किया। इनके पितामह भी आयुर्वेद के ज्ञात थे। अतः आयुर्वेद का ज्ञान इन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था और मूल रूप से ये वैदिक धर्म के अनुयायी थे। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१-६९५) ई० ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि एक व्यक्ति ने आठों अंगों का संग्रह बनाया है जो सम्पूर्ण भारत में फैल चुका था। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि इत्सिंग ने जिसका विवरण किया है वह आचार्य वाग्भट का ग्रन्थ ही था ।इससे इनका समय सातवीं शताब्दी से पूर्व ही प्रमाणित होता है ।अष्टाङ्गसंग्रहविभाजन से यह ज्ञात होता है कि संग्रह की अपेक्षा सूत्रस्थान का संक्षिप्तीकरण किया गया है। शारीरस्थान आधा रह गया है। निदानस्थान समान है। चिकित्सास्थान को विस्तृत किया गया है। उत्तरस्थान भी कम है। इस प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह का संक्षितरूप ही अष्टांगहृदय है। अष्टाङ्गसंग्रहमें धातुओं की वृद्धि के लक्षणों का सामंजस्य दोषलक्षणों के साथ किया गया है जैसे रसवृद्धि में श्लेष्मविकार और पित्तविकार आदि। द्रव्य विज्ञान में औषधियों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। ऋतु सन्धि का कालविभाग में वर्णन किया गया है क्योंकि उसी समय प्रायः रोग उत्पन्न होते हैं। ऋतु के लक्षण को काल, मास और राशि के आधार पर किया है। अष्टाङ्गसंग्रह में अर्ध्वगुद रोग का वर्णन प्राप्त होता है इससे मुख से दुर्गन्ध आती है। दन्तोपाटन का वर्णन भी है। चौदह प्रकार के नेत्र रोग बताए गए हैं। रोगों का वर्गीकरण रोग विज्ञान प्रकरण में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

अष्टाङ्गसंग्रह की भाषा कठिन, अनेक छन्दों वाली, ऐतिहासिक भौगोलिक और सामाजिक है। जबकि अष्टांगहृदयसंक्षिप्त, सरल और केवल पद्यमय है इसकी सरलता के कारण इसका प्रचार अधिक हो गया और इसको आयुर्वेद की बृहत्संहिताओं (बृहत्त्रयी) में सम्मिलित कर लिया गया। अष्टाङ्गसंग्रहका अरबी, जर्मन, तिब्बती भाषा में अनुवाद हो चुका है। अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार अरुणदत्त, हिमाद्रि। अष्टांगहृदय प्रमख, चन्द्रनन्दन, इन्दु इत्यादि थे।

3.3.7 आचार्य माधव – माधवनिदान

आचार्य माधव ने अपने जीवन के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है । इनके पिता का नाम चन्द्रकर था । इनका समय सातवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है । आचार्य माधव ने अष्टांगहृदय से अनेक अंशों को उद्धृत किया है । माधवनिदान ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'रोगविनिश्चय' है । यह रोग विज्ञान का प्राचीनतम ग्रन्थ है । आचार्य माधव ने 'रोगविनिश्चय' नामक ग्रन्थ को लिखकर रोग-विज्ञान की सभी समस्या को दूर कर दिया है । इनके विषय में प्रसिद्ध उक्ति है- **"निदाने माधव: श्रेष्ठ:" ।** संहिताओं में वातव्याधि पर बड़ा विस्तृत वर्णन है । वातरक्त एवं उरुस्तम्भ का दो स्वतन्त्र आध्यायों में वर्णन है । आमवात का संहिताओं में संकेतमात्र मिलता है । इसका स्वतन्त्र स्वरूप खड़ा करने का श्रेय आचार्य माधव को जाता है । संहिताओं में शूल का संक्षेप वर्णन किया गया है । सर्वप्रथम माधव ने इसका विस्तृत और स्वततंत्र वर्णन किया है । अम्लपित्त का माधवनिदान में स्वतन्त्र वर्णन किया गया है । गुप्तकाल में मेदोरोग सबसे अधिक देखा गया था, तो माधव ने इसी का वर्णन अपनी कृति माधवनिदान में किया । श्लीपद का चरक और सुश्रुत ने दूसरे प्रसंगों में वर्णन किया है, परन्तु माधव ने इनका वर्णन स्वतन्त्र अध्याय में किया है । शीतपित्तोदर्दकोठ का भी इन्होंने स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया है । आचार्य माधव ने स्त्रीरोग का वर्णन छः आध्यायों में किया है । जैसे असृग्दर, सूतिकारोग, स्तनरोग आदि । शल्यचिकित्सा के अतरिक्त शल्य, शालाक्य, बालरोग, प्रसूति-स्त्रीरोग विषरोग आदि का भी वर्णन किया गया है । माधवनिदान ग्रन्थ का हिन्दी के अतरिक्त विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद प्राप्त होता है । विजरक्षित द्वारा मधुकोष, वाचस्पति द्वारा आतकदर्पण की टीकायें प्रसिद्ध हैं । माधवनिदान में प्रत्येक रोग का निदान होने के कारण यह सभी चिकित्सकों के लिए एक उपादेय और महनीय ग्रन्थ है ।

3.3.8 आचार्य शार्ङ्गधर – शार्ङ्गधरसंहिता

आचार्य शार्ङ्गधरके पिता का नाम दामोदर था । भगवान शिव की पूजा का विधान कई स्थलों पर होने से यह शैव भक्त प्रतीत होते हैं । आचार्य शार्ङ्गधर के ग्रंथों में इनके समय के बारे में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता । कुछ साक्ष्यों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है । वोपदेव ने १४ वीं शती में शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका लिखी है । नाडीविज्ञान, अफीम, रसौषधियों की प्रमुखता का समावेश उस काल के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है । इस ग्रन्थ की शैली सोढल १२ वीं शती कृत गदनिग्रह पर आधारित है । इसलिए इनका समय १३ वीं शती पूर्वार्ध माना जा सकता है । शार्ङ्गधरसंहिता में ३२ अध्याय और २६०० श्लोक हैं । इसमें तीन खण्ड हैं । पूर्वखण्ड में ७ अध्याय हैं, मध्यखण्ड में १२ अध्याय हैं और उत्तरखण्ड में १३ अध्याय हैं । शार्ङ्गधरसंहिता मध्यकाल की एकमात्र संहिता है । जो तत्कालीन प्रवृत्तियों एवं विचारों का प्रतिनिधित्व करती है । मध्यकालीन लघुत्रयी में शार्ङ्गधरसंहिता का नाम आदर से लिया जाता है । इसमें ऋतुओं का विभाजन राशि भेद से है जैसे ग्रीष्म मेष-वृष आदि । नाडीपरीक्षा का वर्णन सर्वप्रथम शार्ङ्गधरसंहिता में प्राप्त होता है । रोगों का वर्गीकरण ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है। कुछ रोगों के लिए विशिष्ट औषधियों तथा औषध योगों का वर्णन किया गया है । रस, भस्मों और रसौषधियों का वर्णन किया गया है । आचार्य शार्ङ्गधरने विशेषतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर अपनी संहिता की रचना की है । शार्ङ्गधरसंहिता पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं – शार्ङ्गधरशारीर टीका, आढमल्लकृत दीपिका टीका, काशिराम कृत गूढ़ार्थदीपिका, रुद्रभट

कृत आयुर्वेददीपिका । शार्ङ्गधरसंहिता का हिन्दी, गुजराती, मराठी एवं बंगला भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

3.3.9 आचार्य भावमिश्र - भावप्रकाश

आचार्य भावमिश्र कृत भावप्रकाश लघुत्रयी का अन्तिम और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । यह वैद्य समुदाय का लोकप्रिय ग्रन्थ है । इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना परिचय दिया है । **'इति लटकनतनश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे'** इससे पता चलता है कि इनके पिता का नाम लटकन था। मिश्र उपाधि तथा विप्र आदि शब्दों के प्रयोग से उनका ब्राह्मण होने का पता चलता है। कतिपय विद्वान इन्हें वाराणसी या कान्यकुब्ज का मानते हैं। भावमिश्र के शैव होने का संकेत कई स्थानों पर प्राप्त होता है। इनका समय विद्वानों ने १५ वीं और १७ वीं शती के बीच अर्थात १६ वीं शती माना है। व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित और साहित्य में पण्डित जगन्नाथ का जो स्थान है वही भावमिश्र का आयुर्वेद में है। भावमिश्र की प्रमुख कृति भावप्रकाश है। इसके अतरिक्त एक रचना 'गुणरत्नमाला' का भी नाम दृष्टिगोचर होता है। जिस पर भावप्रकाश का निघण्टुभाग आधारित है। भावप्रकाश ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है। पूर्वखण्ड, मध्यखण्ड और उत्तरखण्ड।

1. पूर्वखण्ड- के दो भाग हैं। प्रथम भाग- इसमें आयुर्वेदावतरण से प्रारम्भ करके सृष्टिप्रकरण, गर्भप्रकरण, बालप्रकरण, दिन-ऋतुचर्या प्रकरण तथा मिश्र प्रकरण का वर्णन है। द्वितीय भाग में मान परिभाषा, भैषजविज्ञान धात्वादि शोधनमारणविधि और रोगपरीक्षा प्रकरण है।

2. मध्यखण्ड- में चार भाग हैं।

प्रथम भाग में ज्वर से संग्रहणी तक का वर्णन है, द्वितीय भाग मेंअर्श से वातरक्त तक का वर्णन है,तृतीय भाग मेंशूल से भग्न तक का वर्णन है, औरचतुर्थ भाग में नाडीव्रण से बालरोग तक का वर्णन है।

मध्यखण्ड में ७१ आध्यायों में चिकित्सा का वर्णन है।

3. उत्तरखण्ड- में केवल वाजीकरण और रसायन का वर्णन प्राप्त होता है।

आचार्य भावमिश्र ने आयुर्वेद के विभन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भावप्रकाश ग्रन्थ में रसौषधियों का अत्यधिक प्रयोग प्राप्त होता है। प्रयोग में आने वाली औषधियों के विषय पर इसमें प्रकाश डाला गया है। भावप्रकाश पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, परन्तु शालिग्राम कृत बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से 'भावप्रकाश' की हिन्दी टीका १९०६ में प्रकाशित हुई है।

3.3.10 आचार्य चक्रपाणिदत्त - आयुर्वेद दीपिका

आचार्य चक्रपाणि का समय लगभग १० वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है ।इनका जन्मस्थल मयूरेश्वर गाँव था, जो पश्चिम बंगाल में है। यह एक ब्रह्मण परिवार से थेऔर कुलीन वैद्य भी थे। इनके पिता का नाम नारायण था। इन्होंने चरक संहिता पर 'आयुर्वेद दीपिका' लिखी और सुश्रुत संहिता पर 'भानुमती' व्याख्या लिखी। इसी कारण इनको 'चरक चतुरानन' और 'सुश्रुतसहस्रनयन' उपाधियों से विभूषित किया गया । इन्होंने चिकित्सासंग्रह और द्रव्यगुणसंग्रह नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी ।आयुर्वेद में चक्रपाणि दत्त का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

3.11 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने आयुर्वेद के प्रमुख आचार्यों एवं उनके ग्रंथों का भली-भाँति अध्ययन किया । आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है ।वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है, और इसे अथर्वेद का उपवेद कहा जाता है । आचार्य चरक ने आयुर्वेद को अनादि माना है। उनके कथनानुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया, प्रजापति से अश्वनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने उस ज्ञान को ग्रहण किया, इन्द्र से वह भरद्वाज ने ग्रहण किया, भरद्वाज ने उस ज्ञान का उपदेश अपने शिष्यों को दिया, और शिष्यों ने संहिताओं का निर्माण किया। ब्रह्मा के आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का आख्यान यह संकेत करता है कि आयुर्वेद सृष्टि के आदि काल से ही विद्यमान है। संसार के समस्त प्राणी चाहते हैं कि वह सुखमय दीर्घ जीवन जीए। सभी शास्त्र मनुष्य को त्रिविध दुखों से निवृत्ति का मार्ग तो बताते हैं, परंतु उनमें बताए गए नियमों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्यता आवश्यक है। आयुर्वेद स्वास्थ्य संरक्षण और रोगमुक्ति का शास्त्र है। अतः यह मानव के लिएसर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शास्त्र है। गुरु शिष्य परम्परा के माध्यम से आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार कई वर्षों से इस धरा पर होता आ रहा है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने अपनी-अपनी संहिताओं की रचना करके आयुर्वेद के ज्ञान को जन कल्याण के लिए प्रसारित किया।

3.12 पारिभाषिक शब्दावली

- आयुर्वेद - आयु का ज्ञान
- नित्य - अविनाशी
- अनादि - जिसका आरम्भ न हो (नित्य)
- बृहत्त्रयी - विस्तृत रूप में लिखी गई तीन संहिताएं
- लघुत्रयी - संक्षिप्त रूप में लिखी गई तीन संहिताएं
- व्याधि - दुख
- साध्य - जिसका उपाय सम्भव हो
- कायचिकित्सा - शरीर चिकित्सा
- शल्यचिकित्सा - अंगों को काटना, चीड़-फाड़ (ऑपरेशन)
- आहार - भोजन
- विहार - घूमना
- विकृत - विकार, दोष
- विद्यमान - अस्तित्व में होनेवाला
- निवृति - मुक्त
- संहिता - संग्रह
- ज्वर - बुखार

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिए।

1. आचार्य चक्रपाणि के पिता का नाम क्या था ?
   (क) नारायण (ख) शिवनारायण
   (ग) चक्रधर (घ) अश्वनी
2. आचार्य चरक का समय माना जाता है।
   (क) ६०० से ७०० ई.पू० (ख) ५०० से ६०० ई.पू०
   (ग) ३०० से २०० ई.पू० (घ) ८०० से ९०० ई.पू०
3. भावप्रकाश ग्रन्थ के लेखक हैं।
   (क) चरक (ख) शिवनारायण
   (ग) वाग्भट्ट (घ) भावमिश्र
4. महर्षि भरद्वाज को आयुर्वेद का ज्ञान किसने दिया ?
   (क) ब्रह्मा (ख) इन्द्र
   (ग) वाग्भट्ट (घ) अश्वनी कुमार
5. आचार्य माधव ने आयुर्वेद पर ग्रन्थ लिखा है।
   (क) माधवनिदान (ख) माधवकोश
   (ग) माधवसंग्रह (घ) इनमे से कोई नहीं

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. आचार्य शार्ङ्गधर के पिता का नाम -------- था।
2. आचार्य वाग्भट का काल लगभग --------- शती के आस-पास माना जाता है।
3. आयुर्वेद --------- के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है।
4. आयुर्वेद को ------ सम्प्रदायों में विभाजित किया गया है।
5. भावप्रकाश ग्रन्थ -------- खण्डों में विभक्त है।

(3) सही गलत का चयन कीजिए।

1. आचार्य चक्रपाणि का समय लगभग १० वीं के आसपास माना जाता है।( )
2. ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्षप्रजापति ने प्राप्त किया, दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया।( )
3. वोपदेव ने ११ वीं शती में शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका लिखी है।( )
4. आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत नहीं माना है।( )
5. आचार्य आत्रेय और आचार्य धान्वन्तर सम्प्रदाय के आचार्यों ने आयुर्वेद के समस्त विषयों का संकलन संहिता के रूप में किया है।( )

3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.क, ग, घ, ख, क
2. दामोदर, पाँचवीं, अथर्ववेद, तीन, तीन
3. सही, सही, गलत, गलत, सही

3.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त।
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास।
3. आयुर्वेद का दर्शन क्रिया शरीर एवं स्वस्थ वृत्त।

4. आयुर्वेद उपचार के सिद्धान्तों का परिचय।
5. आयुर्वेद मंथन।
6. चरक संहिता।
7. सुश्रुतसंहिता।

3.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद का परिचय लिखिए।
2. आयुर्वेद की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. आचार्य चरक एवं उनके ग्रन्थ चरकसंहिता पर प्रकाश डालिए।

इकाई-4 आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 स्वास्थ्य की परिभाषा एवं स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश
4.3.1 स्वास्थ्य की परिभाषा
4.3.2 स्वस्थ्य जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश
4.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख उद्देश्य
4.4 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप
4.4.1 रोग के भेद
4.5 रोगों का वर्गीकरण एवं रोगोत्पत्ति प्रक्रिया
4.6 सारांश
4.7 पारिभाषिक शब्दावली
4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.10 निबन्धागत्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

शाब्दिक दृष्टि से देखा जाये तो 'स्वास्थ्य' शब्द संस्कृत के 'स्व' एवं 'स्थ' दो शब्दों से मिलकर बना है। जिनमें 'स्व' से अभिप्राय है स्वयं में अथवा अपने प्राकृत मूल स्वरूप में एवं 'स्थ' से अभिप्राय है स्थित होना। इस प्रकार शरीर का प्राकृत अवस्था अर्थात् रोग एवं पीड़ा रहित प्रसन्न एवं ऊर्जावान स्थिति में होना ही स्वास्थ्य की परिभाषित करता है। शरीर मन इन्द्रियां और आत्मा इन चारों का पूर्ण स्वस्थ होना ही स्वास्थ्य कहलाता है। अतः स्वयं में स्थित होना ही स्वास्थ्य कहलाता है। स्व में शरीर, मन, अंतकरण तथा आत्मा आते है। इन सभी का अपनी जगह में स्थित होना ही स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य का अर्थ है - निरोग। जब हम निरोग रहे तथा अपने आप में, सुखस्वरूप आत्मा में स्थित रहे, तभी स्वस्थ कहलाते है।

स्वस्थ की महत्ता सर्वोपरि होने के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी विवेचन सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रत्येक विमर्श में स्वस्थ को विभिन्न रीतियों से परिभाषित करते हुए स्वस्थ रहने के लिए आदर्श जीवन शैली, पौष्टिक आहार एवं सकारात्मक दृष्टिकोण आवश्यक माना गया है। संक्षेप में कहें तो संतुलित आहार, पर्याप्त श्रम (व्यायाम) एवं विश्राम (निद्रा) और सकारात्मक जीवन शैली स्वस्थ जीवन के सोपान है।

मानव जीवन का परम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष (**'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमूत्तमम्' (च. सू. 1)** इन चारों माना गया है। इन चतुर्विध पुरुषार्थों की प्राप्ति स्वस्थ शरीर के बिना असम्भव है। अतः आरोग्य को ही आचार्यों ने पुरुषार्थ चतुष्टय का मूल स्वीकार किया है। सम्भवतः इसीलिए एषणा त्रय (प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकेषणा) में भी प्राणैषणा पुरा काल से ही बलवती रही है। ऋग्वेद में उद्धृत **'जीवेमः शरदं शतम्'** अर्थात् सौ वर्ष तक पूर्ण स्वस्थ जीवन की अवधारणा भी इसी मन्तव्य को स्पष्ट करती है।सामान्य विमर्श में भी उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के लिए अच्छा स्वास्थ्य अति आवश्यक माना गया है। स्वस्थ मनुष्य ही एक व्यक्ति के रूप में, समाज के रूप में तथा राष्ट्र के रूप में अपनी क्षमता का सर्वोत्तम उपयोग कर सकता है।

जैसा आप भलीभाँति जानते हैं कि भारतीय जीवन पद्धति में मोक्ष की अभिलाषा पुराकाल से ही बलवती रही है। इस हेतु शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना प्रथम आवश्यकता मानी गई है। रूग्ण शरीर लौकिक एवं पारलौकिक सर्वविध उन्नयन में बाधक है। प्रिय विद्यार्थियों जब हम किसी व्याधि से ग्रस्त रहते है, तो व्याधिग्रस्त या रोगग्रस्त कहलाते है। उस समय हम स्वस्थ नहीं रहते है। तब व्याधिग्रस्त या रोगग्रस्त कहलाते है। किसी भी राष्ट्र की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में शारीरिक-मानसिक रूप से स्वस्थ एवं दृढ़ लोगों की अहम् भूमिका होती है। इस सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार करते हुए सभी देश राष्ट्रीय 'रूग्णदर' को कम करने एवं खुश सूचकांक को बढ़ाने पर बल दे रहे हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सभी सरकारों की प्राथमिकता में है। प्रस्तुत इकाई में आप स्वास्थ्य का विभिन्न परिभाषाओं सहित अध्ययन करेंगे। स्वास्थ्य को स्वस्थ बनाये रखने के लिए किन पालनीय नियमों का पालन करता है। इन पालनीय नियमों को ही दिनचर्या के अन्तर्गत बताया गया है।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्याय करने के पश्चात् आप—

- ❖ स्वास्थ्य की उपादेयता के विषय में जान सकेंगे।

- ❖ विभिन्न आचार्यों के अनुसार स्वास्थ्य की परिभाषाओं से अवगत हो सकेंगे।
- ❖ स्वास्थ्य के विभिन्न सोपान शरीर -, मन, आत्मा एवं इन्द्रियाँ
- ❖ स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेद में वर्णित दिशा निर्देश को जान सकेंगे।
- ❖ शारीरिक एवं मानसिक रोग क्या है ?इस अवधारणा से अवगत होंगे।
- ❖ रोग क्या है ? आयुर्वेद में रोगों को किस रूप में परिभाषित किया गया है।
- ❖ रोगोत्पत्ति प्रक्रिया एवं रोगों के प्रकारों को जानने में समर्थ हो सकेंगे।

4.3 स्वास्थ्य की परिभाषा एवं स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

4.3.1 स्वास्थ्य की परिभाषा—

'आयुषो वेदम्' अर्थात् आयुर्वेद आयु (जीवन) का विज्ञान है। इसे पञ्चम वेद एवं अथर्व वेद का उपवेद भी कहा गया है। यहाँ आयु को व्यापक रूप में परिभाषित किया गया है। आचार्यों ने शरीर, इन्द्रिय, सत्व (मन) एवं आत्मा के संयोग को ही आयु कहा है। यहाँ यह समझना प्रासंगिक है कि उक्त शरीरादि चारों जीवन के अंग है तथा अन्योन्याश्रित है। इन सभी के संयोग से ही जीवन सम्भव है। यद्यपि प्रकृति (स्वास्थ्य) एवं विकृति (रोग), ये दोनों ही आयुर्वेद के विवेच्य विषय हैं। तथापि **'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं आतुरस्य विकार प्रशमनम्'** स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं उसके शारीरिक, मानसिक, ऐन्द्रिक एवं आत्मिक गुणों में अभिवृद्धि ही आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य है। स्वस्थ जीवन की प्रतिष्ठापना ही आयुर्वेद का ध्येय है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने स्वास्थ्य की परिभाषा इस प्रकार की है- ''Health is a state of complete physical mental & social well being and not merely an absence of disease or infirmity.'' अर्थात् ''स्वास्थ्य केवल रोग एवं शारीरिक दौर्बल्य से रहित होना मात्र नहीं है, वरन् शारीरिक, मानसिक व सामाजिक साम्य की स्थिति है। यह परिभाषा अति व्यापक है। यदि यह कहा जाये कि आयुर्वेद के महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय इसमें समाहित हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः उक्त त्रिदोषादि सभी विषयों का पृथकशः निम्न प्रकार से विवेचन किया जा रहा है। ''विश्व स्वास्थ्य संगठन की उपरोक्त परिभाषा से हजारों वर्ष पूर्व आचार्य सुश्रुत ने स्वास्थ्य की एक अद्वितीय परिभाषा प्रदान की है। वे कहते हैं कि -

''सम दोषः समानाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।'' (सु० सू० १५/४५)

अर्थात् जिस पुरुष के दोष (शारीरिक एवं मानसिक), धातु (सप्त धातुएं- रस, रक्त, मांस,मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र), मल (मूत्र, पुरीष, स्वेद) तथा अग्नि व्यापार सम हों अर्थात् विकार रहित हो तथा जिसकी इंद्रियाँ, मन व आत्मा प्रसन्न हों, वही स्वस्थ है।

समदोष—

जब शारीरिक, मानसिक रचना एवं क्रिया की दृष्टि से वात, पित्त, कफ़ दोष साम्यावस्था में हो । अर्थात्- शारीरिक दोष शरीर में वात, पित्त, कफ सभी शारीरिक क्रिया कलापों का सम्पादन करते हैं। शरीर को धारण करने से इन्हें धातु भी कहा गया है। परन्तु मिथ्या आहार एवं विहार के कारण ये दूषित होकर विभिन्न रोगों को उत्पन्न करने लगते हैं, ऐसी अवस्था में इन्हें शारीरिक दोष संज्ञा से जाना जाता है। मानसिक दोष सत्व, रज, ओर तम, ये मन के तीन गुण हैं। इनमें से सत्व सम अवस्था की स्थिति है। रज और तम को दूषित करने के

स्वभाव के कारण मानस दोष कहे जाते हैं इन मानस दोषों की समावस्था मानसिक स्वास्थ्य का आधार है और इन्हीं की विषमता मानसिक रूग्णता तथा मानस रोगों का कारण होती है।

समानाग्नि—

जब सभी 13 अग्नियां (5 भूताग्नि, 7 धात्वाग्नि, 1 जठराग्नि) अर्थात् सम्पूर्ण पाचन - पोषण की प्रक्रिया साम्यावस्था में हो। अर्थात् आयुर्वेद मतानुसार शरीर में कुल 13 अग्नियाँ होती हैं। आकाश आदि पाँच महाभूतों की पाँच भूताग्नियाँ एवं रस आदि सात धातुओं की सात धात्वग्नियाँ होती है, एक पाचकाग्नि होती हैं। जिसे जाठराग्नि भी कहा जाता है। इसी से सभी अग्नियों का पोषण होता है। इन तेंरह अग्नियों के संयुक्त रूप से कार्यकारी होने पर शरीर की समस्त चयाचय क्रियाएँ सम्पादित होती है।

समधातुमलक्रिया—

जब धातु (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) व मल (स्वेद, मूत्र, पुरीष) अर्थात् सम्पूर्ण शारीरिक क्रिया सम्यक् हो। अर्थत् धातु-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र, ये सात धातु माने गये हैं। त्रिदोषों के सम अवस्था में होने पर ये ही शरीर का धारण करते हैं। अतः धातु कहलाते हैं। मल (स्वेद, मूत्र एवं पुरीष) ये तीन मल माने गये हैं। इनका यथा समय शरीर से निष्कासन आवश्यक है। अन्यथा इनकी शरीर में अधिक समय तक उपस्थिति रोगोत्पादक हो जाती है।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमना—

उपरोक्त शारीरिक एवं मानसिक रचना क्रिया के बाद भी यदि मन, इन्द्रियाँ एवं आत्मा प्रसन्न नहीं है, तो वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं होता। अर्थात् इन्द्रियाँ चक्षु, (आँख), घ्राण (नाक) कर्ण (कान), रसना (जीभ) एवं त्वचा। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गई है। हस्तद्वय (दो हाथ) पाद द्वय (दो पैर) एवं एक जननेन्द्रिय (शिश्न अथवा योनि), ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मानी गई है। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों में इसकी गणना होने से इसे उभयेन्द्रिय भी माना जाता है। अणुत्व एवं एकत्व मन के दो गुण बताये गये हैं। इन्द्रियों एवं इन्द्रियार्थ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध) का संयोग मन की उपस्थिति में होने पर ही ज्ञान की प्रक्रिया सम्पादित होती है। अतः समस्त प्रकार के ज्ञान प्रक्रिया में मन की महति भूमिका होती है। आत्मा ही शरीर में चेतना का कारण है। आचार्य सुश्रुत ने हृदय को चेतना का स्थान बताया है। आचार्य कश्यप के अनुसार स्वस्थ (आरोग्य) की परिभाषा—

अन्नाभिलाषों भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च।
सृष्ट विण्मूत्र वातत्वं शरीरस्य च लाघवम्।।
सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च सुख स्वप्न प्रबोधनम्।
बल वर्णायुषां लाभः सौमनस्य समाग्नितता।
विद्यादारोग्य लिंगानि.....।। (का.सं. खिलस्थान 5/6-8)

काश्यप संहिता के अनुसार स्वस्थ (आरोग्य) के लक्षण निम्न प्रकार हैं-

1. अन्नाभिलाषो— आहार ग्रहण करने की इच्छा अर्थात् जिसकी भूख अच्छी हो।
2. भुक्तस्य परिपाक सुखेन — ग्रहित अन्न का पाचन सुखपूर्वक होता हो
3. सृष्ट विण्मूत्र वातत्व — पुरीष-मूत्र एवं अपान वायु का उचित निष्कासन होता हो।
4. शरीरस्य च लाघवम् — शरीर में हल्कापन अनुभव होता हो।
5. सुप्रसन्न इन्द्रियत्वंम् — ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ मलरहित हों एवं स्वकार्य सम्पादन में पूर्णतः सक्षम हो।

6. सुख स्वप्न प्रबोधनम् — सुखपूर्वक शयन एवं जागरण की प्रवृत्ति हो
7. बलवर्णायुषां लाभ — बल, वर्ण एवं आयु की यथोचित वृद्धि हो
8. सौमनस्यं— मन प्रसन्न हो
9. समाग्निता— जठराग्नि (पाचन) सम्यक हो

उक्त दोनों ही परिभाषाओं में व्यक्तिपरक एवं वस्तुपरक मानकों के आधार पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बहुत सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है।

4.3.2 स्वस्थ्य जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

आयुर्वेद में आयु को परिभाषित करते हुये कहा गया है— **''शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।"** (च. सू. १/४२) शरीर, इन्द्रिय, मन एवं आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। और इसके विज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं। इन चारों के संयोग से जीव की सुखकर स्थिति को ही आरोग्य कहा गया है। अर्थात् आयु को शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से स्वस्थ रखना ही स्वास्थ्य है। आयुर्वेद में चार प्रकार की आयु का वर्णन आता है—

1. हितायु
2. अहितायु
3. सुखायु
4. दुःखायु

आचार्य चरक द्वारा बताई गई इन चार आयुओं में से 'हितायु-अहितायु' का सम्बन्ध सामाजिक पक्ष से तथा 'सुखायु-दुःखायु' का सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के गुण-दोष से है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के दो पक्ष होते हैं, एक व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। जिस प्रकार व्यक्ति का सामाजिक जीवन महत्वपूर्ण होता है, उसी प्रकार उसका व्यक्तिगत जीवन भी महत्वपूर्ण होता है। व्यक्ति को आरोग्यपूर्ण या स्वस्थ बने रहने के लिये दोनों पक्षों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्ण रूप से स्वस्थ व्यक्ति उसे कहा जा सकता है, जिसका शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक पक्ष दृढ़ होता है।

शरीर और मन ये दोनों रोग के स्थान हैं, तथा सुख का आश्रय भी ये, मन और शरीर ही है। जबकि आत्मा रोग का आश्रय नहीं होता है। आत्मा नित्य है एवं निराकार है, सभी चराचर जगत् का दर्शक है। अतः व्याधि का आश्रय नहीं है किन्तु शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के साथ ही आत्मा की प्रसन्नता भी प्राप्त होती है और तभी जीवात्मा को सुख दुःख का आधार कहा जा सकता है।

''विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।।'' (च०सू० ९/४)

धातुओं की साम्यावस्था प्रकृति या आरोग्य है। आरोग्य को सुख और विकार को दुःख कहा जाता है। आरोग्य एवं स्वास्थ्य दोनों ही एक दूसरे के पर्याय हैं। दोष, धातु, मल का समावस्था में होना (अर्थात् सभी का अपने-अपने कार्यों का सुचारु रूप से करना) प्रकृति कहलाता है। यह प्रकृति ही आरोग्य या स्वास्थ्य कहलाती है, और इसके विपरीत स्थिति विकृति कहलाती है। यह विकृति ही रोग या दुःख का कारण है। अतः अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये।

जैसा कि आप सभी भली भाँति जानते हैं, आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य स्वस्थ मानव के स्वास्थ्य की रक्षा है। अहितकर आहार-विहार के सेवन से व्यक्ति रोगग्रस्त होने पर औषध द्वारा यथोचित चिकित्सा उपलब्ध कराना, द्वितीय उद्देश्य है।

'त्रयउपस्तम्भ'—

स्वस्थ जीवन के लिए आचार्यों ने आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण माना है। इन्हें आयुर्वेद में 'त्रय उपस्तम्भ' संज्ञा दी गई है। वात, पित्त एवं कफ हमारे जीवन के आधार है, जिन्हें 'त्रिस्तम्भ' कहा गया है। इन वातादि दोषों की साम्यावस्था बनाये रखने में आहार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आहार ही हमारी ऊर्जा, वर्ण पाचन प्रणाली एवं रोग प्रतिरोध क्षमता का आधार हैं। यथा **'आहारं पुनर्मूलं बल वर्ण अग्नि ओजसाम्'।** आहार के विषय में विस्तार भय से संक्षेप में कहा जाय तो **'हितभुक-मित भुक-ऋत भुक'** का पालन करना चाहिए।

'हित भुक'—

'हित भुक' से आशय है कि शारीरिक मानसिक बल बनाये रखने के लिए सदैव 'हितकर आहार' का ही ग्रहण करना चाहिए।

मित्भुक—

मित्भुक अर्थात् शरीर की पाचन शक्ति को दृष्टिगत रखते हुये मात्रावत् अर्थात् भूख से कुछ कम भोजन ग्रहण करने का निर्देश आचार्यों ने दिया है। भोजन की अधिक मात्रा एवं अल्प मात्रा दोनों ही कुपोषण का कारण होती है।

हितकर आहार- धान्य में जौ, गेहू, चावल, सब्जियों में घीया, परवल, आँवला, हरड़, पालक, शाक (हरी सब्जियाँ) में बथुआ, मैथी, फलों में द्राक्षा, अनार खजूर, द्रवपदार्थों में दूध, घी हितकर आहार माने गये हैं। जो शारीरिक पोषण के साथ-साथ हमारे मन को भी ऊर्जा प्रदान करते हैं अतः इन्हें नित्य सेवन का निर्देश किया गया है।

'ऋत भुक' —

'ऋत भुक' से अभिप्राय है, आहार का चयन ऋतु के अनुसार होना चाहिए क्योंकि ऋतु के अनुसार दोषों की स्थिति एवं प्राथमिकताएँ परिवर्तित होती है। यथा शीत ऋतु (हेमन्त शिशिर) में हमारी पाचन शक्ति प्रबल होने से अधिक पौष्टिक आहार जैसे पदार्थ बादाम, अखरोट, हलुआ, विभिन्न प्रकार के लड्डू एवं पाक तथा शरीर को उष्णता प्रदान करने हेतु केशर एवं विविध प्रकार के सूप आदि उपेक्षित है जबकि ग्रीष्म ऋतु में पाचनशक्ति अल्प होने के कारण फल एवं फलों का रस, शीतलजल, चिकनाई रहित भूने हुये खाद्य पदार्थ जैसे— चना-जौ आदि के सत्तू अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद हैं। विस्तार से सम्बन्धित अध्याय में वर्णन किया जायेगा।

निद्रा- शरीर-मन एवं इन्द्रियों के स्वाभाविक विश्राम की सम्यक अवस्था है जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निद्रा को आचार्य चरक ने सुख, पुष्टि, बल, वृषता, ज्ञान एवं जीवन देने वाला जबकि इसके विपरीत असम्यक (अनिद्रा, अल्पनिद्रा, अति निद्रा) निद्रा को दुख, कार्श्य, दौर्बल्य (ऊर्जा का अभाव), नपुंसकता, अज्ञान (स्मृतिनाश) एवं अनेकानेक रोगों का कारण बताया है। दिवाशयन कफ प्रकोप एवं रात्री जागरण वात प्रकोप कारक होने से रोगोत्पादक मानी गई है। अतः इनका त्याग करके रात्री में पर्याप्त निद्रा लेनी चाहिए। सुखद निद्रा के लिए आचार्य योगरत्नाकर का परामर्श है कि सायंकाल भोजन के बाद सोने से पूर्व 100 कदम

चलने के बाद सुखद शय्या पर नियम पूर्वक विश्राम करें। आचार्य चरक के अनुसार गहरी निद्रा के लिए तलुवे में तेल की मालिश अतीव लाभप्रद है।

आचार्य चरक ने ब्रह्मचर्य को स्वस्थ जीवन हेतु तृतीय उपस्तम्भ माना है। आचार्य वाग्भट ने इसके स्थान पर अब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ आचार्यों का अभिप्राय अनुशासित वैवाहिक जीवन से ही है। दिनचर्या-स्वस्थ रहने के लिए उपर्युक्त उपस्तम्भ के अतिरिक्त स्वस्थवृत्त के अनेकानेक सोपान निर्देशित है, जो स्वास्थ्य के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग, प्रातः जलपान, व्यायाम, अभ्यंग उद्वर्तन (उबटन) अञ्जन एवं स्नान आदि दिनचर्या के महत्वपूर्ण अंग है।

रसायन सेवन— आँवला, हरड, गिलोय, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मुलेठी, च्यवनप्राश एवं ब्रह्म रसायन आदि रसायन औषधियों का नियमित सेवन भी स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है। ये शरीर एवं मन को पोषण देने के साथ साथ विषाक्त तत्वों को शरीर से निष्कासित करते हुए जीवन को रोग रहित एवं ऊर्जावान बनाते हैं।

ऋतु के अनुसार शोधन— शरद, बसन्त एवं वर्षा ऋतु में क्रमशः पित्त, कफ एवं वात का स्वाभाविक प्रकोप एवं तदजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। अतः ऋतु जन्य व्याधियों से बचाव हेतु इन ऋतुओं के प्रारम्भ में क्रमशः विरेचन, वमन एवं बस्ति का प्रयोग आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है। जिसे ऋतु संशोधन भी कहा जाता है।

ऋतु हरीतकी— आचार्य भावप्रकाश निर्दिष्ट ऋतु हरीतकी भी शारीरिक संशोधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आचार्य के अनुसार हरीतकी (हरड़) का प्रयोग शरद ऋतु में शर्करा, बसन्त ऋतु में मधु, ग्रीष्म ऋतु में गुड़, वर्षा ऋतु में सैंधानमक, हेमन्त ऋतु में सौंठ एवं शिशिर ऋतु में पिप्पली के साथ गरम पानी से करना चाहिए। यह रसायन प्रयोग आंत्र शोधन के साथ-साथ जठराग्नि की सम अवस्था को व्यवस्थित करती है। जो स्वस्थ जीवन के लिए महती आवश्यक है। आचार्य चरक ने निरोगी जीवन के सूत्रों की अभिव्यक्ति च. शा. स्थान में निम्न प्रकार से की है—

नरो हिताहार विहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वशक्तः।
दाता समः सत्यपरो क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवति अरोगः।। (च.शा. 2/46)

जो व्यक्ति हितकर आहार एवं विहार का सेवन करता है, जो जीवन के क्रियाकलापों एवं घटनाओं की समीक्षा करने में प्रवीण हो अर्थात् सकारात्मक दृष्टिकोण वाला हो, भौतिक सुखों की आकांक्षा से रहित हो, जो त्याग प्रवृत्ति वाला हो, सुख-दुख सभी परिस्थितियों में सम रहता हो, सत्यवादी हो, क्षमाशील हो एवं आप्तपुरुषों (श्रेष्ठ लोगों) की सेवा में निरन्तर क्रियाशील रहता हो, वह रोगों से मुक्त रहता है।

4.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख उद्देश्य—

1. स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना ।
2. रोगी के रोगों को दूर करना मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए स्वस्थवृत्त का पालन ।

अतः प्रथम प्रयोजन की पूर्ति हेतु स्वस्थवृत्त का अध्ययन आवश्यक है। अन्य प्राणियों के समान मनुष्य भी शरीर के बाहर व शरीर के अंदर की परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। यदि बाह्य व आभ्यन्तर परिस्थितियाँ अपरिवर्त नशील होतीं, तो स्वास्थ्य के नियम भी अति सरल होते। परन्तु इस गतिमान व परिवर्तनशील संसार में ऐसा होना असंभव है। अतः हमें अपनी जीवनचर्या को इन परिवर्तनों में इस प्रकार ढालना अनिवार्य हो जाता है, जिससे हम स्वस्थ रहते

हुए जीवन-यात्रा सुचारु रूप से पूरी कर सकें व अपने अन्तिम लक्ष्य ''मोक्ष'' की ओर अग्रसर हो सकें। हमारे स्वास्थ्य को बाहर से प्रभावित करने वाले कारणों में मौसम का परिवर्तन, तापमान का परिवर्त न भौगोलिक परिवर्त न व अन्य भौतिक व रसायनिक परिवर्तन ही नहीं हैं, वरन् सामाजिक परिस्थितियाँ भी उसे प्रभावित करती हैं। इस प्रकार हमें अपनी शारीरिक व मानसिक वृत्तियों तथा सामाजिक परिस्थितियों के मध्य सामांजस्य रखना पड़ता है। शरीर के भीतर भी जैव-भौतिक एवं जैव-रासायनिक क्रियाएं निरन्तर क्रियाशील रहती हैं। इन क्रियाओं में परस्पर समन्वय रखना स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है। अनेक हानिकारक जीवाणु व विजातीय तत्व शरीर में प्रवेश पाकर हमारे स्वास्थ्य को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। अनेक अनिष्ट प्रभावों से रक्षा के लिए हमें अपनी रोग क्षमत्व शक्ति को भी बनाए रखना होता है। इन समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से निकलने के लिए हमें किस प्रकार के आहार-विहार, आचार-विचार की आवश्यकता है, इसका विवेचन आवश्यक है। अतः इन सबके लिए स्वस्थवृत्त का ज्ञान अपेक्षित है।

4.4 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप

रोग शब्द की व्युत्पत्ति रूज् धातु में धञ् प्रत्यय लगाने से हुई है। यह धातु पीड़ा कारक अर्थ को इंगित करता है। अतः शरीर या मन को किसी भी रूप में पीड़ा पहुँचाने वाले लक्षण या लक्षण समूह को रोग संज्ञा से संबोधित किया जाता है। **'विविधं दुःखमादधाति शरीरे मनसि चेति व्याधिः'** अर्थात् अनेक प्रकार के दुःख जो शरीर एवं मन को कष्ट देते हैं, उसे व्याधि शब्द की संज्ञा दी गई है—

विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरूच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।। (च.स्. 9/4)

धातुओं में विषमता विकार या रोग हैं तथा धातुओं में साम्य होना प्रकृति या आरोग्य है। आरोग्य से सुख प्राप्त होता है जबकि विकार (रोगावस्था) सभी दुःखों का मूल कारण है। यहाँ ज्ञातव्य है कि जो भाव शरीर का धारण करते हें, वे सभी धातु कहे जाते हैं। अतः यहाँ धातु शब्द से वात, पित्त, कफ त्रिदोष, रस रक्तादि सप्तधातु तथा मल-मूत्र-स्वेदादि मलों का ग्रहण करना चाहिए। इनके निश्चित अनुपात में कमी एवं वृद्धि होना ही धातु वैषम्य है, जो रोगों को उत्पन्न करता है—**'अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूत शरीरि समवायः पुरुषः इत्युच्यते। तद् दुःख संयोगा व्याधयः इत्युच्यन्ते।'** (सु.सू. 1) आचार्य सुश्रुत के अनुसार प्राणियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतो के साथ आत्मा के संयोग होने पर होती है। प्राणियों में किसी भी प्रकार से दुःख से संयोग होने को ही रोग कहा गया है। यह दुःख शारीरिक एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है।

2.4.1 रोग के भेद—

आचार्य चरक (च.नि. 1/5) ने रोग को निम्न संज्ञाओं से संबोधित किया है—

1. रोग— 'रुजतीति रोग'- शरीर में रूजा (पीड़ा, दुःख) उत्पन्न करने वाले कारकों को रोग कहा गया है।

2. आमय— प्रायः रोगोत्पत्ति का मूल कारण आहार पाचन की स्वाभाविक प्रक्रिया के दौरान अग्निमादि। के कारण उत्पन्न आम होता है। अतः आमजन्य होने से रोग को आमय भी कहा गया है।

3. दुःख— व्याधि से शरीर एवं मन में अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसलिए इसको दुःख शब्द से भी सम्बोधित किया गया है।

4. आतंक— रोग ग्रस्त होने पर शारीरिक क्रिया कलापों में असामान्य रूप से हलचल पैदा हो जाने से, रोग के लिए आतंक शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

5. पाप्मा— अयुक्तियुक्त आहार एवं जीवन शैली पाप सदृश एवं अनेकानेक रोगों का कारण होती है। अतः पाप से उत्पन्न होने से व्याधि को पाप्मा शब्द से भी संबोधित किया गया है।

6. विकार— दोषों का समभाव प्रकृति कहा गया है जबकि विषम अवस्था विकृति कही गयी है। वात, पित्त, कफ आदि तीनों दोषों में विषमता होने पर रोगों की उत्पत्ति होती है अतः इन्हें विकार भी कहा गया है।

4.5 रोगों का वर्गीकरण एवं रोगोत्पत्ति प्रक्रिया

जैसा कि आप जान चुके हैं, दोष वैषम्य ही रोग है। वात-पित्त कफ की साम्य अवस्था संतुलित आहार एवं व्यवस्थित जीवन शैली पर निर्भर है। जब आहार एवं दैनिक क्रिया कलापों में विसंगति होती है तो दोषों की वृद्धि या क्षय होने लगता है जिसे दोष प्रकोप के नाम से भी जाना जाता है। प्रकुपित दोष विभिन्न स्रोतों में गतिमान होते हुए रसादि धातुओं को दूषित करते हैं, जब रोगों की उत्पत्ति होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को रोग सम्प्राप्ति के नाम से जाना जाता है।

आचार्य विजय रक्षित जी ने व्याधि को परिभाषित करते हुए रोगोत्पत्ति प्रक्रिया को बहुत सुन्दर रीति से संक्षेप में निम्न प्रकार से समझाया है- **'तथा विध दोष दूष्य सम्मूर्च्छना विशेषों ज्वरादि रूपों व्याधिः।'** अर्थात् दोष तथा रसादि दूष्यों का विशेष प्रकार का संयोग होने पर ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

2.5.1 रोगों का वर्गीकरण— विभिन्न दृष्टिकोण से रोगों के निम्न भेद किये गये हैं- प्रभाव भेद से रोग दो प्रकार के माने जाते हैं। (च.सू. 10/12-16)

1. साध्य रोग— जो रोग चिकित्सा से ठीक हो जाते हैं। उन्हें साध्य रोग कहते हैं। इन्हें पुनः दो भागों में विभाजित किया है।

क. सुख साध्य— जो रोग औषध एवं आहार के प्रयोग से सुगमता से ठीक हो जाते हैं। उन्हें सुखसाध्य कहा गया है।

ख. कृच्छ्र साध्य—जो रोग उचित उपचार करने पर भी लम्बी अवधि में कठिनाई से ठीक होते हैं। उन्हें कृच्छ्रसाध्य रोग कहते हैं।

असाध्य— जो चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होते हैं। इन्हें असाध्य रोग कहा जाता है। इन्हें पुनः दो प्रकार से विभाजित किया है— क. प्रत्याख्येय, ख. याप्य

2. बलभेद से—

क. मृदु रोग— जिन रोगों की उत्पत्ति अल्प कारणों से होती है तथा जिनके पूर्व रूप तथा लक्षण अल्प मात्रा में प्रकट होते हैं। ये रोगी के लिए अधिक कष्टकारक नहीं होते तथा शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

ख. दारूण रोग— जिन रोगों की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। जिनमें पूर्व रूप तथा लक्षण अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं और जो सुगमता से चिकित्सा करने पर साध्य नहीं होते।

3. अधिष्ठान भेद से—

क. शारीरिक रोग— शरीर मेंत्रिदोष प्रकोप से ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं। इन्हें शारीरिक रोग कहते हैं।

ख. मानसिक रोग— रज एवं तमगुण की अधिकता से काम-क्रोध, उन्माद-अपस्मार आदि रोग होते हैं, जो मन को प्रभावित करते हैं। ये मानसिक रोग कहलाते हैं।

4. निमित्त भेद से—

क. निज रोग— जो रोग मिथ्या आहार-विहार के कारण शरीर में वि।मान त्रिदोष के प्रकोप से होते हैं। उन्हें निज रोग कहा जाता है। इन्हें धातु वैषम्य निमित्त रोग भी कहते हैं।

ख. आगन्तुज— जिन रोगों की उत्पत्ति शारीरिक दोष प्रकोप के अतिरिक्त किन्ही बाह्य कारणों जैसे शस्त्र से कटने, सर्प वृश्चिक आदि के दंश से एवं जगम एवं स्थावर विष सेवन अथवा विषाणु या जीवाणु के संक्रमण से होते हैं। इन्हें आगन्तुज रोग कहा जाता है।

5. आशय भेद से—

क. आमाशय समुत्थ— जिन रोगों की उत्पत्ति आम रस से युक्त दोषों से होती है। उन्हें आमाशय समुत्थ रोग कहा जाता है- जैसे ज्वर, रक्तपित्त आदि। प्रायः पित्तज एवं कफज रोग आमाशय समुत्थ होते हैं।

ख. पक्वाशय समुत्थ— इन रोगों में दोष आमयुक्त नहीं होते अपितु निराम अवस्था में रोगों की उत्पत्ति होती हैं। प्रायः वात से उत्पन्न सभी रोग पक्वाशय समुत्थ होते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रोगों का वर्गीकरण - आचार्य सुश्रुत ने रोगों के निम्न तीन भेद किये हैं-

1. आध्यात्मिक रोग— शरीर-इन्द्रियाँ-मन एवं आत्मा के संयोग को आयु या जीवन माना गया है। आत्मा शरीर में चेतना का कारण है तथा यह शरीर में निवास करती है। मन एवं इन्द्रियों के तादात्म्य से ही आत्मा समस्त ज्ञान परम्परा का वहन करती है अतः आत्म शब्द से शरीर सहित मन का ग्रहण अपेक्षित है। अतः इनमें होने वाले शारीरिक एवं मानसिक रोगों को आध्यात्मिक रोग कहा जाता है।

2.आधिभौतिक— धूप-वर्षा-तूफान-आँधी-भूकम्प आदि से तथा दूषित वातावरण;चवससनजपवदद्ध से होने वाले रोगों को आधिभौतिक कहते हैं।

3. आधि दैविक— मनुष्येतर योनियों में होने वाले तथा सूक्ष्म जीवाणुओं से होने वाले रोगों की गणना इस वर्ग में की जा सकती है। पूर्व जन्म कृत कर्मों के परिणाम स्वरूप होने वाले रोगों को भी इस श्रेणी में रखा गया है।

आचार्य सुश्रुत ने रोगों को पुनः निम्न सात वर्गों में विभाजित किया है—

1. आदिबल प्रवृत्त— इस श्रेणी में वंश परम्परा अर्थात् वंशानुगत होने वाले रोगों की गणना की गई है। वातादि दोषों से दूषित स्त्री बीज अथवा पुरुषबीज के द्वारा भावी संतान में रोगों का होना आदि बल प्रवृत्त माना जाता है। जैसे मधुमेह। आचार्य चरक ने इन रोगों को कुलज रोग कहा है तथा आचार्य वाग्भट ने इन्हें सहज रोग की श्रेणी में रखा है। आदिबल प्रवृत्त रोगों को दो भागों में विभाजित किया गया है।

क. मातृज रोग— दूषित स्त्रीबीज से होने वाले रोग मातृज रोग कहलाते हैं।

ख. पितृज रोग— दूषित पुरुषबीज से होने वाले रोग पितृज रोग कहलाते हैं।

2. जन्मबल प्रवृत्त— गर्भावस्था में माता द्वारा किये गये मिथ्या आहार-विहार यथा-धूम्रपान, मद्य का सेवन, चिन्ता, शोकादि के कारण गर्भस्थ शिशु को अनेकानेक, रोग जैसे- पंगु, आन्ध्य,

बधिर, मूक आदि हो जाते हैं। इन्हें जन्म बल प्रवृत्त रोग कहते हैं। निदान की दृष्टि से इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया गया है-

क. रस कृत— माता के आहार रस से सम्बन्धित रोग कार्श्य, स्थौल्य आदि।

ख. दौहृदोपचारकृत— गर्भावस्था में माता की आहार सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने पर सन्तान में होने वाले विभिन्न रोग इसे श्रेणी में माने जाते हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें गर्भज रोग कहा है।

3. दोषबल प्रवृत्त रोग— मिथ्या आहार-विहार से दोष प्रकोप के कारण होने वाले रोग इस श्रेणी में परिगणित किये गये हैं। इन्हें शारीरिक एवं मानसिक दो प्रकार से विभाजित किया गया है। शारीरिक रोगों को पुनः आमाशय समुत्थ एवं पक्वाशय समुत्थ द्विधा विभाजित किया है। आचार्य वाग्भट ने इन्हें जातज रोग कहा है।

4. संघातबल प्रवृत्त रोग— शारीरिक दोषों के प्रकोप से इतर बाह्य कारणों जैसे बलवान व्यक्ति से युद्ध करने से, शस्त्र आदि के आघात से या विषेले प्राणी के काटने आदि से होने वाले सभी आगन्तुक रोग इस वर्ग में समाविष्ट किये गये हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें पीड़ाज रोग कहा है।

5. कालबल प्रवृत्त— ऋतुजन्य रोग इस श्रेणी में परिगणित हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें कालज रोग कहा है।

6. दैव बलप्रवृत्त— मनुष्य से इतर योनियों के शरीर में प्रविष्ट होकर होने वाले अनेक प्रकार के उत्पन्न विकार तथा देवों गुरुओं के अभिशाप के कारण होने वाले रोग दैव बल प्रवृत्त रोग कहलाते हैं। इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया गया है-

क. विद्युत दशनिकृता— भूकम्प, विद्युतपात आदि से होने वाले रोग।

ख. पैशाचकृत— इनमें मनुष्येतर योनियाँ भूत, प्रेत, पिशाचादि के शरीर में प्रविष्ट होने से जिन रोगों की उत्पत्ति होती है।उन्हें इस वर्ग में समावेशित किया गया है। दैव बल प्रवृत्त रोगों को पुनः निम्न दो भागों में विभाजित किया है-

क. संसर्गज रोग— संक्रामक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति के संसर्ग में 'रहने के कारण होने वाले रोग इस श्रेणी में रखे गये हैं, जैसे- फिरंग, पूयमेह आदि रोग।

ख. आकस्मिक रोग— जो रोग बिना संसर्ग के पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप अचानक हो जाते हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हीं प्रभावज रोग कहा है।

7. स्वभाव बल प्रवृत्त— क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु एवं निद्रा आदि स्वाभाविक रूप से होने वाले रोगों का समावेश स्वभाव बल प्रवृत्त रोगों में होता है। आचार्य वाग्भट ने इन्हें स्वभावज रोग कहा है।

अभ्यास प्रश्न—

1. बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. आयुर्वेद में त्रिदोष हैं ?
   A. वात-पित्तकफ-
   B. सततम-रज-
   C. जठराग्नि-धात्वग्निभूताग्नि-
   D. स्वेद-मूत्रपुरीष-
2. अग्नियां हैं।
   A. 3

B. 4

C. 5

D. 1

3. धातुएँ है।

A. 6

B. 7

C. 5

D. 4

4. मल कितने प्रकार के है।

A. 4

B. 3

C. 2

D. 6

2. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए –

1. त्रिदोष वात, पित्त एवं ..... है।
2. सप्त धातुओं का नाम रस, रक्त, ..., मेद, अस्थि, मज्जा एवं ..... हैं।
3. पंचमहाभूत .....-जल-तेज-वायु-आकाश हैं।
4. आचार्य चरक के अनुसार आमय, दुःख, आतंक, पाप्मा एवं .....रोग के पर्याय है।
5. आयुर्वेद के अनुसार चारों पुरूषार्थ के मूल में .....है।

3. सही एवं गलत का चयन करें।

1. जिन रोगों का औषध एवं आहार से उपचार सम्भव हो, वे रोग साध्य रोग कहते हैं।
2. जिन रोगों का औषध-आहार द्वारा उपचार सम्भव नहीं हो, वे असाध्य रोग कहे जाते हैं।
3. अधिष्ठान के आधार पर रोगों के दो भेद हैं।
4. स्वयं में स्थित होना स्वास्थ्य कहलाता है।
5. 'समदोष समाग्निश्चि' परिभाषा चरक संहिता में वर्णित है।
6. आयुर्वेद के अनुसार 13 प्रकार की अग्नि होती है।

4.6 सारांश

स्वस्थ जीवन की अभिलाषा मानव की प्रारम्भिक काल से ही रही है। उसी के परिणाम स्वरूप स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई है। रोगों से मुक्त होना ही नहीं अपितु शारीर, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सुखद स्थिति ही स्वास्थ्य का परिचायक है। सामान्यतः संतुलित आहार, नियमित दिनचर्या, पर्याप्त निद्रा, व्यायाम, सकारात्मक सोच एवं आर्थिक दृष्टि से समृद्धि स्वस्थ जीवन के लिए महत्वपूर्ण उपादान है।

आयुर्वेद एक प्राचीन चिकित्सा विज्ञान है। यहाँ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ शरीर, मन, इन्द्रियाँ एवं आत्मा के संयोग को आयु अर्थात् जीवन माना गया है। भौतिक शरीर के साथ-साथ आत्मा एवं मन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वस्थ जीवन शैली, हितकर आहार एवं संयमित जीवन स्वास्थ्य के सोपान बताये हैं। ब्रह्म मुहुर्त में जागरण, 'उषापान (प्रातः जलसेवन), व्यायाम, अभ्यंग, उबटन, स्नान, ध्यान एवं रात्रि में

गहरी निद्रा उत्तम स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। चयापचय क्रिया के दौरान उत्पन्न विषाक्त द्रव्यों का नियमित निष्कासन एवं रसायन सेवन जीवन शैली जन्य रोगों से बचाव के लिए अत्यावश्यक है। हरड़, आँवला, गिलोय, ब्राह्मी आदि रसायन द्रव्यों का नियमित सेवन हमें निरोगी एवं ऊर्जावान रखने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते है।

शरीर या मन को किसी भी रूप में पीड़ा पहुँचाने वाले लक्षण या लक्षण समूह को रोगों के रूप में जाना जाता है। दोष, धातु एवं मलों के सम्यक स्थिति में होने से समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलाप अबाध रूप से क्रियान्वित रहते हैं। ऐसी स्थिति को प्रकृति (स्वस्थावस्था) के रूप में कहा गया है। इसके विपरीत उक्त धातुओं में विषमता होने पर समस्त शारीरिक-मानसिक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होने लगती है। उस स्थिति को विकृति (रोगावस्था) के नाम से संबोधित किया गया है। इस धातु वैषम्य का मूल कारण मिथ्या आहार एवं विहार माना गया है। जिन्हें निदान भी कहा जाता है। आचार्य चरक ने आमय, दुःख, आतंक, पाप्मा एवं विकार रोगों के पर्याय बताये हैं। यद्यपि रोगों के विविध दृष्ट्या अनेक भेद किये गये हैं तथापि मुख्य रूप से शरीर को प्रभावित करने वाले रोग शारीरिक एवं मन को प्रभावित करने वाले रोग मानसिक रोग कहे गये हैं।

4.7 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	-	**अर्थ**
त्रिदोष	-	वात, पित्त, कफ
मल	-	स्वेद-मल पुरीष
रसायन	-	जो द्रव्यसेवन करने पर धातुओं की वृद्धि करे
सत्व	-	मन
आत्मा	-	चेतना
इन्द्रियाँ	-	ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ
अग्नि	-	आहार पाचन में सहायक
प्रकृति	-	निरोग
विकृति	-	रोग युक्त
विकृति	-	वात-पित्त-कफ तीनों दोषों का विषम होना।
साम्य	-	प्राकृत अवस्था।
पंचमहाभूत	-	पृथ्वी-जल-तेज-वायु एवं आकाश।
असाध्य रोग	-	जो रोग औषध या आहार से भी ठीक नहीं होते हैं।
मृदु	-	अल्प प्रभाव वाले।
दारूण	-	अधिक घातक, कठिनाई से ठीक होने वाले रोग।
अधिष्ठान	-	स्थान।
शारीरिक दोष	-	वात-पित्त-कफ।
मानसिक दोष	-	रज-तम।
आध्यात्मिक	-	शरीर, मन एवं आत्मा से संबंधित।
आधि भौतिक	-	बाह्य जगत या पर्यावरण दूषित होने से होने वाले रोग।
आधि दैविक	-	सूक्ष्म जीवाणुओं से होने वाले रोग

सृष्ट	-	निष्कासन
लाघव	-	हल्कापन
स्वप्न	-	निद्रा
भुक	-	भक्षण करना
मित	-	अल्प
स्तम्भ	-	आधार
उपस्तम्भ	-	सहायक आधार
समीक्ष्यकारी	-	समीक्षा
विषय	-	भौतिक सुख
सम	-	समस्थिति में रहने वाला (स्थित प्रज्ञ)
सत्यपरो	-	सत्यवादी
आप्त	-	निर्लिप्त सुधी जन
अरोग	-	निरोगी
प्रकृति	-	वात-पित्त-कफ तीनों दोषों सम प्रमाण में होना।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1.क	2.क	3.ख	4.ख		
2. 1. कफ	2. मांस, शुक	3. पृथ्वी	4. विकार	5. आरोग्य	
3. 1.सही	2.सही	3.सही	4.सही	4. सही	5. गलत	6. सही

4.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1- चरक संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध
2- सुश्रुत संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध
3- अष्टांग, संग्रह सूत्रस्थान
4- योगरत्नाकर
5- भावप्रकाश

4.10 निबन्धागत्मक प्रश्न

1. स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए रोगों के भेद बताइये।
2. आचर्य सुश्रुत द्वारा दी गई स्वास्थ्य की परिभाषा का विस्तृत वर्णन करें।
3. शरीर एवं मन को ऊर्जावान बनाने वाले आहार द्रव्यों का उल्लेख कीजिए।
4. सप्त धातुओं का नामतः उल्लेख कीजिए।

खण्ड- दो (Section-B)
आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त

इकाई.1 त्रिगुण, त्रिदोष, त्रिमल का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 त्रिगुण शब्द का अर्थ एवं स्वरुप
1.4 त्रिगुणों का कार्य
1.5 त्रिदोष शब्द का अर्थ एवं स्वरुप
1.6 त्रिदोषों का कार्य
1.7 त्रिदोषों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय
1.8 त्रिमल शब्द का अर्थ एवं स्वरुप
1.9 त्रिमलोंका शारीरिक प्रभावएवं उपाय
1.10 त्रिगुणत्रिदोष एवं त्रिमल की अवधारणा ,
1.11 सारांश
1.12 शब्दावली
1.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा के आधार स्तम्भ 'वेद' निश्चित रूप से समृद्ध है, ऐसा कोई भी विषय, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दार्शनिक अथवा लोकविद्या सम्बद्ध नहीं है, जिसकी विषद चर्चा इसमें न हुई हो। विभिन्न ज्ञान-विज्ञान से संपन्न इन वेदों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के उपवेदों (आयुर्वेद, यजुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद) में भी ज्ञान संबंधी विविध विषय सामग्री का उल्लेख उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के उपवेद आयुर्वेद में चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों एवं नाना रोगों के उपचार के साथ ही विविध प्रकार की औषधियों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इसी का अनुशीलन कर चिकित्साशास्त्रियों ने आयुर्वेद के विविध ग्रंथों की रचना की, जिसमें आचार्य चरक द्वारा विरचित 'चरकसंहिता' भारतीय आयुर्वेद परंपरा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है- यह आयुर्वेद अनादि होने से, अपने लक्षण के स्वभावतः सिद्ध होने से एवं भावों के स्वभाव के नित्य होने से शाश्वत अर्थात् अनादि या अनंत है-

सोऽमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्त्वात्।
स्वाभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभाव नित्यत्त्वाच्च।। च. सं. सू. 30/26

प्रस्तुत हम भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा में खण्ड-2 सिद्धांत एवं औषधि की इस इकाई के अंतर्गत प्रमुख विषयों- त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल शब्द की व्युत्पत्ति, उनका स्वरुप तथा कार्य एवं मानव शरीर पर पड़ने वाले इनके प्रभावों के साथ-साथ त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल की मूलभूत अवधारणाओं के विषय में अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई में हम आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धांतो के अंतर्गत त्रिगुण, त्रिदोषत्रिमल शब्द , के अर्थ को जानेंगे ।
- इस इकाई में आप त्रिगुण त्रिदोष एवं ,त्रिमल से मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को जानेंगे।
- प्रस्तुत इकाई में आप त्रिगुणत्रिदोष एवं त्रिमल संबंधी मूलभूत अवधारणाओं के विषय , से अवगत होंगे।

1.3 त्रिगुण शब्द का अर्थ एवं त्रिगुण का परिचय

त्रिगुण शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- **त्रि+गुण** जिसका अर्थ है, तीन प्रकार के गुण अर्थात् ये तीन प्रकार के गुण सत्त्व, रज एवं तम हैं। आचार्य चरक ने तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा है। सांख्य में सत्त्व, रज एवं तम को प्रकृति की संज्ञा दी गई है।प्रकृति के ये तीन मूलभूत गुण व्यक्ति की शारीरिक प्रकृति एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सत्व गुण सत्य, ज्ञान, प्रेम और शांति,रजस गुण क्रियाशीलता, उत्साह एवं तम गुण जड़ता, अज्ञान एवं अंधकार का प्रतीक है।प्रकृति के सभी घटकों में त्रिगुण प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में विद्यमान हैं। मनुष्य अपने जीवन यापन हेतु प्रकृति पर निर्भर है अत एव ये गुण मनुष्य को प्रभावित करते हैं।त्रिगुणों में सत्त्व, रज एवं तम को हम निम्नलिखित रूप से पृथक-पृथक से समझ सकते हैं-

सत्त्वगुण—

सत्त्व गुण, प्रकृति के तीन गुणों में एक है। यह गुण हल्का या लघु एवं प्रकाश करने वाला है। पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध इसी गुण से होता है। बुद्धिगत सत्य में पुरुष अपना बिम्ब देखकर स्वयं को कर्ता मानकर सत्वगत मलिनता आदि का आरोप करने लगता है। सत्व की मलिनता या शुद्धता के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि मलिन या शुद्ध होती है। अत: योग एवं सांख्य दर्शन में सत्व शुद्धि पर जोर दिया गया है एवं जिन वस्तुओं से बुद्धि निर्मल होती है उन्हें सात्विक वस्तु कहा गया हैं। इसके अतिरिक्त आहार, व्यवहार, विचार आदि पवित्र हों तो सत्व गुण की अभिवृद्धि होती है, जिससे बुद्धि निर्मल होती है एवं अत्यंत निर्मल बुद्धि में पड़े प्रतिबिंब से पुरुष को अपने वास्तविकनिरंजन रूप का ज्ञान हो जाता है एवं वह मुक्त हो जाता है।सत्त्व गुण से युक्त सात्त्विक मनुष्य- मन में शांत, स्थिर और एकाग्र होते हैं, वे सुख, संतुष्टि और आनंद की भावना रखते हैं, उनके मन में दया, करुणा एवं क्षमा की भावना प्रबल होती है,वे ज्ञान तथा समझ के प्रति उत्सुक होते हैं एवं आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करना पसंद करते हैंवे पवित्रता एवं शुद्धता के प्रतीक होते हैं तथा उनका व्यवहार भी शुद्ध होता है, उनका अध्यात्म के प्रति झुकाव होता है।

रजोगुण—

रजोगुण, जिसे राजस गुण या रज भी कहा जाता है, प्रकृति के तीन गुणों में से एक है, जो गति, परिवर्तन एवं क्रियाशीलता से जुड़ा है। यह कामुक इच्छा, सांसारिक लोभ, अभिमान, असत्य एवंपीड़ा आदि की भावनाओं से युक्त है। रज के आधिक्य से युक्त व्यक्ति गति एवं परिवर्तन की ओर उन्मुख होता है तथा वह कर्म, प्रयास तथा संघर्ष से जुड़ा होता है। रजोगुण कर्म के बंधन में बांधता है, अर्थात, यह मनुष्य को कर्मों के परिणामों से समन्वित करता है। रजोगुण कामना, आसक्ति एवं लालसा से युक्त है, जो मनुष्य को सांसारिक सुखों एवं भोगों की ओर उन्मुख करवाता है। रजोगुण मनुष्य में चिंता, भय, चिड़चिड़ापन एवं तनाव जैसी नकारात्मक भावनाओं को जन्म देता है।

तमोगुण—

तमो गुण, तीन गुणों में से एक है, जो अज्ञान, अंधकार एवं निष्क्रियता से जुड़ा है। यह आलस्य, घृणा, संदेह, और भ्रम जैसे नकारात्मक गुणों से भी संबंधित है। तमो गुण अज्ञानता और अंधकार का प्रतीक है, जो व्यक्ति को सही-गलत, सत्य-असत्य का भेद करने से रोकता है। यह मनुष्य में आलस्य एवं निष्क्रियता,घृणा, संदेह, भ्रम, अपराधबोध, शर्म, लत, उदासीनता, शोक, एवं निर्भरता जैसे नकारात्मक गुणों को बढ़ावा देता है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति दूसरों को कष्ट देने वाले, अपराध करने वाले, एवं दूसरों का अहित करने वाले होते हैं। पूर्वोक्त तीनों गुणों के सन्दर्भ में सांख्य दर्शन में भीउल्लेख उपलब्ध होता है-

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज:।
गुरु वरणमेव तम: प्रदीप्वाच्चार्थतो वृत्ति:।।

1.2 त्रिगुणों के कार्य

प्रकृति की साम्यावस्था का त्रिगुणों (सत्त्व, रज, तम) द्वारा निर्धारित होता है,एवं त्रिगुण प्रकृति की सभी प्रकार की वस्तुओं में विद्यमान हैं, इस दृष्टी से इन्हें सात्विक, राजसिक, तामसिक द्रव्य की संज्ञा भी दी गयी है।जिस प्रकार सांख्य में त्रिगुणों को ब्रह्माण्ड की रचना का आधार ममना गया है, भगवतगीता में मनुष्य के स्वभाव एवं कर्मों को प्रभावित करने के सन्दर्भ में त्रिगुणों का स्वरुप का उल्लेख किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद में, त्रिगुणों का उपयोग मानव

शरीर के त्रिदोष को समझने और संतुलित करने के लिए किया जाता है एवं इनसे ही मनुष्य की प्रकृति का निर्धारण माना गया है।आयुर्वेद शास्त्र के अंतर्गत मनुष्य की शारीरिक प्रकृति एवं मानसिक प्रकृति का अध्ययन किया जाता है, अत एव इन दोनों प्रकृतियों में त्रि द्रव्यों का संतुलन आवश्यक माना गया है। किसी एक द्रव्य का भी इन प्रकृतियों में अपकर्ष होता है तो वहाँ दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है- दोषाः तस्यापकर्षकाः। गर्भादान के समय वीर्य एवं राजस का संयोग होने से वात, पित्त दोष या कफ में एक की अधिकता होने के कारण मानस प्रकृति का निर्धारण होता है, ये प्रकृतियाँ तीन हैं-सात्विक, राजसिक, तामसिक।**सात्त्विक प्रकृति** से युक्त मनुष्य में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है इस कारण उसमें विवेक, क्षमा, संतोष, दया, लज्जा, इन्द्रियों तथा मन की निर्मलता, अनाशक्ति, लघुता, परोपकारता आदि गुण अधिक मात्र में पाए जाते हैं। **राजसिक प्रकृति** वाले मनुष्य में रजो गुण की प्रधानता अधिक होती है। इस कारण वह चंचल,तृष्णा, अहंकार, लोभ, शोक, विभिन्न भोगों में आसक्ति एवं इसके अतिरिक्त वह मुख्य रूप से विवध दुःख आदि से ग्रसित रहता है। **तामसिक प्रकृति** में तमो गुण की प्रधानता रहती है, जिस कारण वह मिथ्याज्ञान, दीनता, निष्क्रियता, मोह एवं गुरुत्त्व आदि की विशेषताओं से युक्त होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त कार्यों एवं विविध विशेषताओं से युक्त त्रिगुणतीन प्रकार की प्रकृतियों का निर्माण करते हैं।

1.3 त्रिदोष शब्द का अर्थ एवं स्वरुप

मनुष्य का दोष, धातु एवं मल से निर्मित है। इस दृष्टी से शरीर में पाए जाने वाले विभिन्न तत्त्व त्रिदोषों में अन्तर्निहित रहते है। त्रिदोष शब्द का अर्थ शरीर के तीन मौलिक तत्वों का समूहसे है-**वात, पित्त एवं कफ**। आयुर्वेद में ये तीनों तत्त्व शरीर की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के हेतु कहे गए हैं। इन तीन तत्वों का संतुलन ही स्वास्थ्य का आधार है। वात, पित्त एवं कफ शरीर की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं, जैसे कि गति, पाचन तथा शरीर का तापमान। इन्हें निम्न रूप में समझा जा सकता है-

वात—

वात सेतात्पर्य वायु से है, जो वा धा से निष्पन्न है, जिसके अनुसार शरीर में गति या उत्साह का नियंत्रण करने वाला **"वात"** शब्द से अभिधेयित है। वायु से शरीर की सभी गतिशील क्रियाएं होती हैं।जिससे तंत्रिका तंत्र नियंत्रित रहता है।

पित्त—

पित्त शब्द तप धातु से निष्पन्न है- **तपति एवं पित्तम्** अर्थात जोतत्त्व शरीर में ताप या उच्चता उत्पन्न करता है वह "**पित्त**" कहलाता है। यह शरीर में पाचक रसों एवं हार्मोन्स का नियमन करने के साथ ही शरीर के तापमान को नियंत्रित करता है।

कफ—

त्रिदोषो में जल से उत्पन्न दोष **"कफ"** कहा गया है- केन जलेन फलति निष्पद्यते इति कफः। काफ को आयुर्वेद में श्लेष्मा की संज्ञा दी गई है। अर्थात् संयोग कराने वाला या मिलाने वाला श्लेष्मा कहलाता है। श्लिष्यन्ति इति श्लेष्मा। कफ शरीर के सभी अंगों के पोषण के साथ-साथ वात एवं पित्त में संतुलन बनाये रखता है।

इन तीनों तत्वों का संतुलन शरीर के लिए आवश्यक है, क्योंकि वे सभी मिलकर शरीर के कार्यों को सुचारू रूप से गतिशील बनाते हैं, जब इनमें से कोई भी तत्व असंतुलित होता है, तो इससे विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, वात के

असंतुलन से घबराहट, चिंता, या पाचन संबंधी समस्याएं हो सकती हैं। इसी प्रकार, पित्त के असंतुलन से क्रोध, एसिडिटी, या त्वचा संबंधी समस्याएं हो सकती हैं एवं कफ के असंतुलन से सुस्ती, वजन बढ़ना, या सर्दी-खांसी होने की संभावना बनी रहती हैं।

1.4 त्रिदोषों का कार्य

शरीर में विद्यमान त्रिदोषों- वात, पित्त एवं कफ का शारीरिक संतुलन बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनमें से यदि कोई एक भी विकृत होता है, तो यह शरीर को हानि पहुंचाते हैं, कभी-कभी ये त्रिदोष ही मृत्यु का कारण बन जाते हैं। इसके विपरीत वात, पित्त एवं कफ की संतुलित अवस्था में ये सभी शरीर की क्रियाओं का संचालन कर उसे गतिशील बनाए रखते हैं।ये त्रिदोष यद्यपि शरीर के सभी अंगों में विद्यमान रहते हैं किन्तु विशेषतः यह नाभि, हृदय एवं हृदय से ऊपर के भाग में रहते हैं। (वात-नाभि के निम्न भाग में, पित्त-नाभि एवं हृदय के मध्य में, कफ- हृदय से उपरी भाग में) एवं शरीर में विविध कार्यो का निष्पादन करते हैं-

वायु पित्तं कफश्चेति त्रयो समासतः
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ।।
ते व्यपिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योहर्वसश्रयाः।।

वात का कार्य— विक्षेप अर्थात् शारीरिक गतियों का सञ्चालन एवं नियंत्रण करना है। वात में आकाश वायु दो महाभूतों की प्रधानता मानी गई है। यह यह वात पांच रूपों से शरीर में गतिशील रहता है- प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। **प्राणवात** सिर, ग्रीवा तथा वक्ष स्थल में स्थित रहकर स्वशन आदि क्रियाओं को कर मस्तिष्क के सभी कार्यों को नियंत्रित रखता है। **अपानवात** मूत्राशय में स्थित है अर्थात् यह गुदा आदि की ओर बहने वाली वायु है, इसका मुख्य कार्य मल-मूत्र एवं वीर्य का निष्कासन एवं स्त्रियों के मासिक धर्म को नियंत्रित करना है।**व्यानवात**सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहकर शरीर की समस्त गतियों पर नियंत्रण रखता है।**उदान वात** ग्रीवा एवं वक्षस्थल में अवस्थित रहकर वाणी को नियंत्रित करता है। **सामान वात** भोजन के पाचन एवं मल-दूषणों के पृथकीकरण को संचालित करेने के साथ-साथ शरीर का ताप, विविध द्रव्य पदार्थों तथा पित्त एवं कफ को नियंत्रित करता है।

पित्त का कार्य— मानवीय ताप को धारण करना है, इसमें अग्नितत्त्व की प्रधानता होती है।इसका मुख्य कार्य भोजन का पाचन कर उसे उर्जा में परवर्तित करना है, यह शरीर में पाचन संतुलन के साथ-साथ रासयानीकरण, यकृत, आमाशय संबंधी आदि क्रियाओं का सञ्चालन करता है।वात के सामान पित्त भी पांच रूपों में मानव शरीर में कार्य करता है-आरोचक पित्त, साधकपित्त, भ्राजकपित्त, पाचकपित्त एवं रंजक पित्त। **आरोचक पित्त**शरीर में आँखों के रंग अथवा देखने की क्रियाओं का सञ्चालन करता है।**साधक पित्त** हृदय में अवस्थित बौद्धिक व उत्साह शक्ति की वृद्धि करता है। **भ्राजक पित्त शारीरिक** ताप को नियंत्रित कर त्वचा को सुन्दर बनाने का कार्य करता है।पाचक पित्त छोटी आँत में अवस्थित रहकर भोजन पचाने की क्रिया को पूर्ण करता है। रंजक पित्त यकृत तथा मूत्राशय में अवस्थित रहते हुए रक्त का निर्माण एवं शारीरिक प्रतिरक्षण की वृद्धि करता है।

कफ का कार्य— मानव शरीर का जलीय अंश कहा कहा गया है, जिसके कारण यह द्रव्य (द्रव)पदार्थों को धारण करता है। वात एवं पित्त के सामान ही कफ भी पांच रूपों में मानव शरीर में कार्य करता है-तर्पककफ, बोधक कफ अवलम्बक कफ क्लेदक कफ एवं श्लेष्मक कफ।

तर्पक कफ की अवस्थिति शिर में होती है यह मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों को उनके कार्य निष्पादन में सहयोग प्रदान करता है। **बोधक कफ**की अवस्थिति मानव शरीर के जीभ एवं आहारनाल में मानी जाती है इसका मुख्य कार्य भोजन में स्वाद का अनुग्रहण करवाना है। **अवलम्बक कफ**मानव शरीर के हृदय एवं त्रिक में अवस्थित रहते हुए हृदय को सुचारू रूप से संचालित करता है। **क्लेदक कफ** छोटे-छोटे कणों में विभक्त भोजन को आद्रता अर्थात् नमी या द्रव्यता प्रदान करना है। एवं **श्लेष्मक कफ** का कार्य मानव शरीर की अस्थियों को सुदृढ़ता प्रदान करना है। इस प्रकार वात, पित्त एवं कफ तीनों मिलकर मानव शरीर में अपने-अपने कार्यों का निर्वहन करते हैं।

1.5 त्रिदोषों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय

त्रिदोष आयुर्वेद में शरीर की तीन मूलभूत ऊर्जाएं हैं जो शारीरिक कार्यों को नियंत्रित करती हैं। इन दोषों का असंतुलन तनावखराब आहार एवं खराब जीवनशैली के कारण हो सकता है। इन त्रिदोषों से मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्न रूप समझा सकता है-

शारीरिक प्रभाव—

1. वात के संतुलित रहने की अवस्था में जहाँ एक ओर मनुष्य तीव्र कल्पना शक्ति, संवेदन शीलता, लचीलापन एवं उल्लासित रहता है वहीं दूसरी ओर वात के असंतुलित रहने की अवस्था में मनुष्य में शरीर का भार कम, शक्ति का ह्रास होना, गठिया, कब्ज़, हृदय रोग, मानसिक विकार, उच्च रक्तचाप इत्यादि प्रभाव दृष्टीगत होते हैं।**पित्त** की संतुलानावास्था में शरीर में प्रज्ञा, दृढविश्वास, उद्यमशील आह्लादपूर्ण गुणों की वृद्धि होती है एवं पित्त की अधिकता या असंतुलन होने पर जठराग्नि का मंद होना, विदग्धता, कमला शोथ, ज्वरादी रोग उत्पन्न हो जाते हैं साथ ही साथ (मेध धातु की वृद्धि से) शरीर में जलन, पागलपन, अजीर्णता, मधुमेह तथा जरोदर रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। **कफ** के असामान्य होने की अवस्था में जहाँ एक ओर यह शरीर में मधुमेय, अजीर्णता, जरोदर एवं आमवात जैसे विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वहीं संतुलित अवस्था में यह मानव शरीर में शांति, सहानुभूति, सहासीपन, क्षमावान एवं स्नेहयुक्त गुणों की वृद्धि करता है।

2. वात पित्त एवं कफ का प्रभाव मानव शरीर में समयानुसार भी पड़ता है**,** दिन के समय पथ में प्रहर में कफ, मध्य में पित्त एवं दिन के अंत में वात का प्रभाव रहता है- **वायोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यदीनाः क्रमात**। इसी प्रकार मानव शरीर में वृद्धावस्था में वात, युवावस्था में पित्त तथा बाल्यावस्था में कफ का का प्रभाव रहता है। बाल्यावस्था में बालक का भोजन मात्र दुग्ध होता है एवं वह अधिक गति नहीं करता तथा न ही उसे किसी बात की चिंता रहती है, अतः इस अवस्था में उसके शरीर में स्निग्ध, शीतादि गुणों से युक्त **कफ** की मात्र अधिक होती है। युवावस्था में शरीर का निर्माण अस्थि, मज्जा आदि धातुओं से निर्मित होता है, मुख्यतः रक्त का निर्माण इसी अवस्था में अधिक होता है, जिसमें **पित्त** की महत्त्वपूर्ण भोमिका होती है।वृद्धावस्था में शरीर में धातुओं की कमी होने लगति है। साथ ही शरीर में रुक्षता आने लगती है एवं वात का प्रभाव बढ़ जाता है।

3. मनुष्य के भोजन की प्रक्रिया इन त्रिदोषों का प्रभाव भी दृष्टीगत होता है। भोजन को खाते समय कफ की मात्रा एवं पाचन क्रिया में पित्त की एवं पाचन क्रिया के बाद अविशष्ठका परित्याग करवाने में वात की भूमिका रहती है। भोजन कफ के साथ मिलकर मुख में लार, जो की क्षार

होती है, के साथ मिलकर आमाशय में पहुँचता है। अमाशय में अम्ल के साथ क्षार का संयोग होने से वह भोजन को मृदु बना देता है। भोजन के पित्त में पहुंचने पर पित्त की प्रक्रिया हो प्रारंभ हो जाती है तथा यह भोजन को रस में परवर्तित कर देता है जिससे मज्जा, मांस, रक्त, वीर्य, मल, मूत्र आदि का निर्माण होता है।तत्पश्चात वात की प्रधानता से अविशष्ठपदार्थ मल, मूत्रादि पदार्थों का परित्याग होता है।

4.शरीर में वात आदि दोषों की कमी या अधिकता के कारण जठराग्नि भी प्रभावित होती है। वायु के विषमगति हो जाने पर पाचन की अवस्था कभी नियमित एवं कभी अनियमित होती है।पित्त की अधिकता के कारण कभी भोजन समय से पूर्व ही पच जाता है, जिससे पुनः भोजन की इच्छा जागृत होती है एवं दीर्घ काल में अत्यधिक भोजन करने से भार आदि में अनावश्यक वृद्धि होती है।

5.वात प्रकृति युक्त मनुष्य के उदर में यदि वायु के प्रभाव बढ़ने की स्थिति को **कोष्ठक्रूर** कहा जाता है। इस प्रकार की स्थिति में उसे मल का त्याग करने में कठिनाई होती है। अतः वात का प्रभाव कम करने हेतु पित्त की मात्रा की थोड़ी वृद्धि हेतु व्यक्ति को ओषधि लेने की सलाह दी जाती है-

कोष्ठ: क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्य: स्यात्तै: समैरपि।

6.आयुर्वेद में तीनों दोषों की साम्यता ही स्वस्थ होने का आधार माना जाता है। इन तीनों दोषों की 07 प्रकृतियाँ होती हैं। बाल्यावस्था में जिसकी प्रकृति वात प्रकृति है उसे वात की वृद्धि करने वाले आहार से, पित्त प्रकृति वाले की प्रकृति को पित्त वृद्धि वाले आहार से,कफ प्रकृति वाले की प्रकृति कोकफ वृद्धि वाले आहार से परहेज करना चाहिए-

शुक्रार्त्तवस्थैजन्मादो विषेनेव विषक्रिये:।
तैश्च तिस्र: प्रकृतयो हीनमध्योत्तमा: पृथक्।।
समधातु: समस्तासु श्रेष्ठा निंदा द्विदोषज्ञा।।

7. सप्तधातुओं (रस, रक्त, माँस, मेदा, मज्जा, अस्थि, शुक्र) के निर्माण में कफ एवं पित्त की एवं त्रिमलों(मल, मूत्र एवं विष्ठा) की शरीर से निवृत्ति में वात की अहम् भूमिका होती है। शरीर के मूलक धारक इन तीनों दोषों के द्वारा तथा त्रिमलोंमें विकृति उत्पन्न हो जाती है, इस कारण ये दोष्य भी कहे गये हैं।

8.आयुर्वेद शास्त्र में तिक्त, कटु, कसाय, लवण, मधुर की उत्पति पंचमहाभूतों से मानी गयी है। एवं ये सभी त्रिदोषों के संयोग से शरीर में पोषण की वृद्धि करते हैं।

9.शरीर में वात दोष के **शारीरिक लक्षणों** में-क़ब्ज़ होना, गैस की समस्या, शरीर में पानी की कमी, सूखी और रूखी त्वचा, शरीर में लगातार दर्द बने रहना, मुह में खट्टा व कसैला स्वाद आना, कमज़ोरी व थकान,ओज की कमी, ठीक से नींद न आना, शरीर के अंगो में कंपन बने रहना, हमेशा भय एवं घबराहट महसूस होना, सामान्य से ज़्यादा ठण्ड लगना आदि होते हैं।एवं इसके **मानसिक लक्षणों** में जीवन के प्रति निराशा, चिंतित बने रहना, हमेशा अधीरता का भाव बने रहना, हर समय अपनी ज़िम्मेदारियों से भागते रहना, सब कुछ महत्वहीन लगना, लोगों से बात करने की इच्छा रहना,एकांत का भाव आदि होते हैं।

10. शरीर में वात दोष बढ़ने के भी विभिन्न कारण होते हैं, जिनमें-मल-मूत्र रोकने,छींक को रोकने,देर रात तक जागने की आदत, मुँह खोलकर रखने की आदत, सोते समय खर्राटे लेने की

वजह से, हमेशा चिंता में या मानसिक परेशानी में रहना, ज्यादा सेक्स करना, ज्यादा ठंडी चीजें खाना आदि प्रमुख हैं।

12. शरीर में वात दोष बढ़ने से शरीर में ऐठन बने रहना, कंपकपी, कमज़ोरी, पेट दर्द, मरोड़ होना, मांसपेशियों में थकान बनना, जोड़ों में दर्द बनना – खासकर घुटनों में (इसकी वजह से गठिया हो सकता है)शरीर में जकड़न, हर समय या अचानक से सिर दर्द होना, लगातार क़ब्ज़ की समस्या रहना आदि समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

13. शरीर में पित्त के असन्तुलन से- अधिक भूख-प्यास लगना, सीने में जलन बनना – एसिडिटी, आँखेहाथों व तलवों में जलन बने रहना, सामान्य से बहुत गर्मी लगाना, हर समय पसीने आना, त्वचा से जुड़ी समस्याएँ होना जैसे – चेहरे पर दाने, मुहाँसे, फुंसी और अन्य समस्याएँ, पित्त की उल्टी, प्रकाश के प्रति अति संवेदनशीलता,शरीर से अथवा मुह से तीक्ष्ण गंध, बहुत ज्यादा सिर दर्द होना, जी मचलाना या उलटी जैसा मन होना, दस्त होने की समस्या, मुख में कड़वा स्वाद बने रहना, ज़्यादा गर्मी लगना आदि लक्षण दृष्टीगत होते हैं। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक लक्षणों मेंबोल चाल उग्र होना, काम करने में चिड़चिड़ाहट होना, हमेशा गुस्सा आना, हर किसी के साथ आक्रामक होना, विवाद करने के लिए हर समय तैयार रहना आदि प्रमुख माने जाते हैं।

14. शरीर में कफ असंतुलन सेहर समय आलस्य, भारीपन होना, भूख न लगना – लेकिन फिर भी खाना लेते रहना, जी मचलना, उलटी आना, शरीर में पानी जमा हो जाना, जकड़न, बलगम बनना – इसकी वजह से अक्सर खांसी हो सकती है और नजले की शिकायत भी हो सकती है, मुँह में स्राव, साँस लेने में तकलीफ़ होना, – ऐसे में दमे की समस्या भी हो सकती है।अत्यधिक नींद आना जो कि आलस का सबसे बड़ा संकेत है, मुँह में मीठापन महसूस होना, अंगों का ढीलापन, सेक्स में समस्याएँ होना, आंखों और नाक से अधिक गंदगी का स्राव, शरीर में गीलापन महसूस होना, मल-मूत्र और पसीने में चिपचिपापन आदि। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक लक्षणोंमें-दुःख का भाव बने रहना, काम में मन न लगना, दूसरों पर आश्रित रहना – ऐसे लोग खुद को हमेशा अकेला महसूस करते हैं, हमेशा खुद को दुसरो से कमजोर समझने का भाव, मन में लोभ जागृत होना आदि दृष्टीगत होते हैं।

उपाय—

आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धांत ब्रह्मांड के तीन तत्वों पर आधारित है- वायु,अग्नि एवं जल। यह तीन मूलभूत ऊर्जाएँ वात, पित्त एवं कफ के रूप में सभी शारीरिक कार्यों को नियंत्रित करती हैं। इनमें वात वायु का स्थान,पित्त अग्नि एवं जल का, तथा कफ जल एवं पृथ्वी का स्थान माना जता है। ये ऊर्जाएँ मनुष्यों में विभिन्न शारीरिकस्वभाव तथा बीमारियों के प्रति संवेदनशीलता के लिए उत्तरदायी हैं। अर्थात् हम कह सकते हैं की त्रिदोषों से हमारा शरीर आतंरिक रूप से प्रभावित होता है, किन्तु उसका प्रभाव हमें बाह्य रूप से दिखाई देता है। इन प्रभावों को दूर करने हेतु आयुर्वेद में कतिपय उपायों का वर्णन किया गया है, जिससे त्रिदोषों में साम्यता बनी रहे। ये उपाय निम्नलिखित हैं-

1. वात के संतुलन के लिए शरीर पर तेल से मालिश करना(विशेष रूप से तिल का तेल),गर्म एवं आरामदायक भोजन का सेवन तथा नियमित व्यायाम, नरम खाद्य पदार्थ, जामुन, केले,

आड़ू, पकी हुई सब्जियां, मांस, अंडे तथा दुग्ध के उत्पाद,एवं प्रोटीन युक्त आहार का सेवन करना चाहिए।

2. पित्त के संतुलन के **पित्त दोष को संतुलित रखने के**घी का सेवन जरूर करें। सबसे बेहतर गाय का घी हैं। गोभी,खीरा,गाजर,आलू,शिमला मिर्च और हरी पत्तेदार सब्जियों का सेवन करें। इसी प्रकार सभी तरह की दालों का सेवन करें।एलोवेरा जूस,अंकुरित अनाज,सलाद एवं दलिया आदि का सेवन करना चाहिए।

3. कफ के संतुलन के लिएशहद के साथ-साथ गर्मएवं मसालेदार भोजन का सेवन करना चाहिए साथ ही नियमित रूप से व्यायाम अवश्य करना चाहिए। इन अनाजों का सेवन करें – बाजरा, मक्का,गेंहूं,एवं सब्जियों मेंपालक,पत्तागोभी,ब्रोकली,हरी सेम,शिमला मिर्च,मटर,आलू,मूली,चुकंदर आदि का सेवन मुख्य रूप से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैतून के तेल एवं सरसों के तेल का उपयोग, छाछ और पनीर का सेवन,(छाछ का सेवन दिन के समय ही करें।) तीखे और गर्म खाद्य पदार्थों का सेवन करें, ठन्डे खाने से परहेज करना चाहिए, सभी तरह की दालों को अच्छे से पकाकर खाएं, कच्चे खाने से दूरी बना कर रखें, नमक का सेवन, साधारण नमक की जगह सेंधा नमक का उपयोग एवं पुराने शहद का उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए।

4. आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार की हर्बल दवाइयाँ उपलब्ध हैं जो त्रिदोषों को संतुलित करने में मदद करती हैं। **पंचकर्म** (यह एक आयुर्वेद चिकित्सा है जो शरीर से विषाक्त पदार्थों को निकालने में मदद करती है।) **योग और ध्यान (**ये दोनों मन और शरीर को शांत करने और त्रिदोषों को संतुलित करने में मदद करते हैं)

इस प्रकार त्रिदोषों को संतुलित करना शरीर के स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण है। इसमें उचित आहार,जीवनशैली में परिवर्तन एवं विविध आयुर्वेदिक उपायों के द्वारा त्रिदोषों को संतुलित किया जा सकता है।

1.6 त्रिमल शब्द का अर्थ एवं स्वरुप

शरीर में पाचक अग्नि द्वारा भोजन के पाचानोपरांत भोजन के साररूप धातुओं एवं पोषकतत्त्वों का निर्माण होता है, एवं इन तत्त्वों के अवशिष्ट भागों में मल, मूत्र एवं श्वेद(त्रिमल) को शरीर को मलिन करने के सन्दर्भ में भारतीय आयुर्वेद शास्त्र में **मल** की संज्ञा दी गयी है(**मालिनीकरानादाहारमलल्वान्मला। अष्टांग ह्रदय सूत्र 1/13)** शरीर केस्वास्थ्य हेतु इन पदार्थों का निष्कासन अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है।इन त्रिमलों में भोजन के चयापचय क्रिया के बाद ऊतक कोषों द्वारा निकाले गए व्यर्थ पदार्थ, पाचन क्रिया के दौरान अतिजीर्ण, मृत या निर्जीव धातुएं अत्यधिक वायु पित्त एवं कफ दोष तथा शरीर हेतु अन्य हानिकारक तत्त्व शामिल होते हैं। इन त्रिमलों में मल, मूत्र तथा श्वेद में से किसी एक की अधिकता होने पर ये स्वभावतः शरीर के विसर्जक अंगों की ओर गतिकरने लगते हैं। इन त्रिमलों के अतिरिक्त नाख़ून, बाल, दाढ़ी-मूंछ, लोम(शरीर के छोटे बाल), नाक कान, आँख तथा मुख आदि से निकलने वाले सभी पदार्थ मल कहे गए हैं एवं इनमें मल अथवा पुरीष, मूत्र तथा श्वेद को ही त्रिमल की संज्ञा दी जाती है।

1.7 त्रिमलों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय

त्रिगुण एवं त्रिदोष की भांति ही त्रिमलों की साम्यता अथवा स्व-स्व कार्य करने की प्रक्रिया में यदि कोई विकृति उत्पन्न होती है, तो शरीर पर अन्तः व बाह्य प्रभाव दृष्टीगत होते हैं। त्रिमलों से शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं

मल (पुरीष)—

शरीर में पुरीष का निर्माण भोजन के असार भाग तथा शरीर के ऊतकों द्वारा निर्मित किये गए व्यर्थ तत्त्वों के मिश्रण से होता है, इस पुरीष का शरीर से बाहर निकलना परम आवश्यक है इसका उचित प्रकार से विसर्जन न होने पर आँतों में कीट पनपने लगते हैं तथा पेट के रोगों के साथ-साथ कमरदर्द, आमवात, गृध्रसी, पक्षाघात लकवा तथा दमा जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं साथ ही इसकी वृद्धि सेपेट में शूल, आँतों में गुड़गुड़ाहट तथा शरीर में भारीपन हो जाता है। अधिक भोजन खाने एवं अजीर्ण से पुरीष की मात्रा में वृद्धि होती है-**पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च। कुक्षावाध्यानमाटोपम गौरवं वेदनं शकृत**।

मूत्र—

मूत्र नामक त्रिदोष शरीर में अवशिष्ठ पदार्थों को अपने द्रव रूप में बाहर निर्गत है। यह आहार के असार अर्थात किट्ट या मल का तरल अंश होता है। यह शरीर की आवश्यकता से अधिक आर्द्रताको कम करता है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए ग्रीष्म तथा शीत रितु में दिन में पांच से छ: बार पानी पीने पर बल दिया जाता है ताकि व्यक्ति के मूत्र त्याग में में शरीर के शरीर के व्यर्थ पदार्थ भी निर्गत हो जांए । आयुर्वेद के अनुसार अत्यधिक मूत्र आना भी एक प्रकार के रोग को दर्शाता है,अधिक मात्रा में मूत्र आने पर गुदा मार्ग में दर्दसाथ ही शरीर में बैचैनी एवं भारीपन होने लगता है। मूत्र के कम मात्र में विसर्जन से मूत्र मार्ग में दर्द, मूत्र के पीला होना, रक्त मिश्रित मूत्र आना अधिक प्यास आना एवं मुँह सूखना आदि के लक्षण शरीर में दृष्टीगत होते हैं।

स्वेद—

त्रिमलों में मल (पुरीष) एवं मूत्र के सामान ही स्वेद भी एक प्रकार का मल है, जो मानव शरीर की त्वचा को स्वस्थ रखने के लिएमहत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योकि इस स्वेद के माध्यम से शरीर में उत्पन्न होने वाले निर्गत विभिन्न व्यर्थ पदार्थ के त्वचा के माध्यम से निर्गत होते हैं। स्वेद के माध्यम से शरीर का तापमान नियंत्रित रहता है। अधिक श्रम या व्यायाम या गर्मी के कारण पसीना अधिक आता है एवं वायु लगने से त्वचा की गर्मी से यह वाष्प रूप में उड़ जाता है, जिससे त्वचा का तापमान कम होता है। अधिक मात्रा में पसीना आने पर भी त्वचा में दुर्गन्ध एवं खुजली होने लगती है, किन्तु कम मात्रा में आने पर त्वचा में रूखापन एवं त्वचा का फटना, स्पर्श का उचित ज्ञान न होना एवं रोमावलियों का गिरना आदि लक्षण दृष्टीगत होते हैं।

उपाय—

त्रिगुण तथा त्रिदोष को संतुलित रखने वाले उपायों के साथ ही त्रिमालों में किसी भी प्रकार की विकृति के निवारण के विभिन्न उपायों आयुर्वेद शास्त्र में वर्णन उपलब्ध होता है, जिनमें कतिपय सूक्ष्म उपाय इस प्रकार हैं-हमेंअधिक एवं भारी द्रव्यों से युक्त भोजन को नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के भोजन को खाने से आमाशय में अवस्थित पित्त पर दबाब बनता है, जिससे भोजन आसानी से नहीं पचता। एवं वात की अधिकता होने पर भी पुरीष आसानी से निर्गत नहीं होता । अतःहमें हल्के एवं रस युक्त कोमल पदार्थों का सेवन करना

चाहिए।मूत्र नामकदोष के निर्गत हेतु अधिक से अधिक पानी का सेवन करना चाहिए, क्योंकि मूत्र के साथ अन्य सूक्ष्म अवशिष्ट पदार्थो का निष्कासन भी हो जाता है। मनुष्य को भोजन करने के साथ ही परिश्रम या खूब व्यायाम करना चाहिए।ताकि त्वचा के माध्यम सभी सूक्ष्म अवशिष्ट पदार्थ निर्गत हो जाते हैं।

1.8 त्रिगुण त्रिदोष एवं त्रिमल ,की अवधारणा

आयुर्वेद के मुख्य सिद्धांतों में त्रिगुण, त्रिदोष तथा त्रिमल की व्याख्या प्राचीन है।**वेदों**(ऋग्वेद के उपवेद आयुर्वेद)में त्रिगुण शरीर के मानसिक तथा भावनात्मक स्वास्थ्य को नियंत्रित करते हैं, जबकि त्रिदोष शरीर के शारीरिक स्वास्थ्य को नियंत्रित करते हैं। त्रिगुण तथा त्रिदोष के मध्य का संबंध शरीर, मन तथा प्रकृति के बीच के संबंध को उजागर करता है। त्रिमल के बारे में यह माना जाता है कि वे शरीर में अवशिष्ट के रूप में होते हैं, जिनका शरीर को स्वस्थ रखने में शरीर से निर्गत होना आवश्यक है। इसी प्रकार **भारतीय दर्शन** में, त्रिगुण, त्रिदोष तथा त्रिमल तीनों महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं जो शरीर, मन तथा आत्मा के बोध हेतु आवश्यक हैं। त्रिगुण-सत्व, रज तथा तम, ब्रह्मांड एवं मानव प्रकृति के आधार हैं, जबकि त्रिदोष-वात, पित्त और कफ, शरीर की तीन ऊर्जाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। त्रिमल, पसीना, मूत्र और मल, शरीर के अपशिष्ट उत्पाद हैं। **गीता के 14वें अध्याय गुणत्रय विभाग योग** में श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रकृति सत्व, रजस, एवं तमस तीन गुणों से निर्मित है तथा मानव शरीर, मन एवं बुद्धि जो प्राकृत शक्ति से बने हैं, उनमें भी तीनों गुण विद्यमान होते हैं,जो हमारे व्यावहारिक स्वरूप का निर्धारण करते हैं। सत्व गुण शांत स्वभाव, सद्गुण तथा शुद्धता को चित्रित करता है, रजो गुण अन्तहीन कामनाओं तथा सांसारिक आकर्षणों के लिए अतृप्त महत्वाकांक्षाओं में वृद्धि करता है एवं तमो गुण भ्रम, आलस्य, नशे और निद्रा का कारण है। प्रबुद्ध मनुष्य सदैव संतुलित रहते हैं और वे संसार में तीन गुणों के कार्यान्वयन को देखकर व्यक्तियों, पदार्थों तथा परिस्थितियों में प्रकट होने वाले उनके प्रभाव से विचलित नहीं होते। वे सभी पदार्थों को भगवान की शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं जो अंततः उनके नियंत्रण में होती है। इसलिए सांसारिक परिस्थितियाँ न तो उन्हें हर्षित और न ही उन्हें दुखी कर सकती हैं। इस प्रकार बिना विचलित हुए वे अपनी आत्मा में स्थित रहते हैं। **उपनिषदों** में, त्रिगुण का अर्थ है सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से है एवं इन गुणों को प्रकृति तथा मानव व्यवहार का निर्धारक कहा गया है। इस प्रकार वेदों, पुराणों, गीता दर्शन आदि में वर्णित त्रिसिद्धांतों का उल्लेख परवर्ती आयुर्वेद एवं योग आदि ग्रंथों में भी हुआ है, जिनके माध्यम से मनुष्य को समय- समय पर चिकित्सा पद्धति में त्रिसिद्धांतों से मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों एवं उनके उपचार का ज्ञान भी होता रहा है।

1.9 सारांश

आयुर्वेद के त्रिगुण- सत्त्व, रज एवं तमप्रकृति की साम्यावस्था की वह शक्ति है जो मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित एवं परिवर्तित करती है। इन त्रिगुणों से मनुष्य तीव्र, दुःख एवं उदासीनता का अनुभव करता है साथ ही पञ्चमहाभूतों के अंश से निर्मित (एक दोष का जन्म दो महाभूतों के मेल से माना गया है-**वात दोष**-वायु व आकाश, **पित्त दोष**-अग्नि व जल, **कफ दोष**-पृथ्वी व जल)मनुष्य शरीर में व्याप्त त्रिदोषों-वात, पित्त एवं कफ के साथ संयोजन कर मनुष्य के शरीर को गतिमान रखते हैं। इन दो त्रि-सिद्धांतों के संयोजन से गतिमान रहते हुए शरीर में त्रिमल आदि भी व्यवस्थित रूप से क्रियाशील रहते हैं।अर्थात यह तीनों-

त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल हमारे शरीर में संतुलित मात्रा में उपस्थित रहते हैं, किन्तु इन तीनों में किसी भी तत्त्व के विकृति की स्थिति में शरीरिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमने त्रिगुण शब्द का अर्थ एवं स्वरुप त्रिगुणों का कार्य त्रिदोष शब्द का अर्थ एवं स्वरुप, त्रिदोषों का कार्य,त्रिदोषों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय, त्रिमल शब्द का अर्थ एवं स्वरुप, त्रिमलों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय, त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा आदि के विषय में जाना।

1.10 शब्दावली

वात	वायु
स्वेद	त्वचा से निर्गत पसीना
पुरीष	मल आदि अवशिष्ठ पदार्थ
पंचकर्म आयुर्वेद चिकित्सा	शरीर के विषाक्त पदार्थों के निगत की विधि
साम्यावस्था	संतुलित अवस्था
कोष्ठक्रूर	उदार में वात वृद्धि की स्थिति

बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.निम्न में त्रिगुणों में समिल्लित नहीं है-

क.सत्त्व ख. रज ग.पुरीष घ.तम

2. चरक संहिता के रचनाकार हैं-

क.आचार्य चरक ख.वाग्भट्ट ग.सुश्रुत घ. एकचारी सगरनंदी

3.गीता के किस अध्याय में त्रिगुण स्वरुप का वर्णन किया गया है?

क.11वां ख.10वां ग.12वां घ.14वां

4.निम्न में से कफ का एक भेद नहीं है-

क.आरोचक ख.तर्पक ग.बोधक घ.अवलम्बक

5. निम्न में से पित्त का एक भेद नहीं है-

क.आरोचक ख.तर्पक ग.साधक घ.भ्रामक

6. आयुर्वेद में वात के कितने भेद कहे गए हैं-

क.चार ख.पांच ग.छः घ. तीन

रिक्त स्थान-

1. मूत्र एवं श्वेद को शरीर को मलिन करने के सन्दर्भ में भारतीय आयुर्वेद शास्त्र में (त्रिमल) .....की संज्ञा दी गयी।
2. ..... एक आयुर्वेद चिकित्सा है जो शरीर से विषाक्त पदार्थों को निकालने में मदद करती है।
3. शरीर में का निर्माण भोजन के असार भाग तथा शरीर के ऊतकों द्वारा निर्मित ..... है किये गए व्यर्थ तत्त्वों के मिश्रण से होता।
4. शारीरिक ताप को नियंत्रित कर त्वचा को सुन्दर बनाने का कार्य .....करता है।

सत्य/असत्य

1. भारतीय दर्शन में, त्रिगुण, त्रिदोष तथा त्रिमल तीनों महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं जो शरीर, मन तथा आत्मा के बोध हेतु आवश्यक हैं। ( )

2. सप्तधातुओं- रस, रक्त, माँस, मेदा, मज्जा, ऊतक, त्वचा आते हैं। ( )

3.अधिक मात्रा में पसीना आने पर भी त्वचा में दुर्गन्ध एवं खुजली होने लगती है, किन्तु कम मात्रा में आने पर त्वचा में रूखापन एवं त्वचा का फटना, स्पर्श का उचित ज्ञान न होना एवं रोमावलियों का गिरना आदि लक्षण दृष्टीगत होते हैं। ( )

4.वात का कार्य विक्षेप अर्थात् शारीरिक गतियों का सञ्चालन एवं नियंत्रण करना नहीं है ( )

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.ग.पुरीष

2. क.आचार्य चरक

3.घ.14 वां

4.क.आरोचक

5.ख.तर्पक

6. ख.पांच

रिक्त स्थान-

1.मल

2.पंचकर्मा

3.पुरीष

4.भ्राजक पित्त

सत्य/असत्य

1. सत्य

2. असत्य

3. सत्य

4. असत्य

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत शास्त्रों का इतिहास-उपाध्याय बलदेव, हिमालयन प्रेस गणेश सोसाइटी वाराणसी

2.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय पर आधारित "स्वदेशी चिकित्सा"- दीक्षित राजीव, स्वदेशी प्रकाशन सेवाग्राम वर्धा (गुजरात) सं0 २०१२

3.आयुर्वेद सिद्धांत रहस्य- आचार्य बालकृष्ण, पाण्डेय प्रेमदत्त द्वारा संपादित।

4.अग्निवेश प्रणीत चरक संहिता- अनुवादक, गुप्ता अत्रिदेव जी, भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस।

5.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय-श्री कृष्णलाल, मुंबई प्रकाशन महाराष्ट्र।

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. शारीरिक स्वास्थ्य में त्रिदोषों की उपादेयता को स्पष्ट कीजिये।
2. त्रिगुण शब्द का अर्थ बताते हुए उसके स्वरुप को स्पष्ट कीजिये।
3. त्रिदोष के भेद व उपभेदों की विवेचना कीजिये।

4. त्रिमलों की शारीरिक क्रिया की विवेचना कीजिये।

5. त्रिसिद्धान्तों की मूलभूत अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।

इकाई-2 पंचमहाभूत, सप्त धातु एवं त्रयोदाशाग्नि का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 पंचमहाभूत का अर्थ एवं स्वरुप
2.4 पंचमहाभूत का कार्य प्रभाव एवं महत्त्व ,
2.5 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का अर्थ एवं स्वरुप
2.6 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का कार्य प्रभाव एवं महत्त्व ,
2.7 पंचमहाभूत सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि सम्बंधित अवधारणा ,
2.8 सारांश
2.9 शब्दावली
2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा के आधार स्तम्भ वेद विश्व की सभी ज्ञान-विज्ञान के अक्षय उत्स हैं, उन्हीं ज्ञान व अनुशीलनात्मक विषयों में प्रमुख आयुर्वेद- विज्ञान है, जो मनुष्य के शारीरिक व मानसिक रोगों एवं उनके उपचार की विवध औषधीय पद्धतियों के माध्यम से व्याख्या करता है। इस दृष्टी हमारे प्राचीन आर्ष कवियों ने विविध सिद्धान्तों का प्रणयन किया जो उनके शास्त्रीय ग्रंथो में उपनिबद्ध हैं।इन सिद्धांतों में त्रिदोष, त्रिमल, त्रिगुण के अतिरिक्त पंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदाशाग्नि सिद्धांत भी प्रमुख हैं, जो मानव की अन्तः क्रियाओं में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित हैं।प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम पंचमहाभूतों में- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी का अर्थ एवं स्वरुप, उनकी शारीरिक प्राणी जगत के निर्माण में भूमिका, विविध सप्त धातुएं एवं उनका कार्य, त्रयोदाशाग्नि का अर्थ, प्रभाव व कार्यों का विवेचनात्मक अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य

- ❖ प्रस्तुत इकाई में आप आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धांतों में पंचमहाभूत, सप्तधातु तथा त्रयोदाशाग्नि के अर्थ एवं स्वरुप के विषय में जानेंगे।
- ❖ प्रस्तुत इकाई में आप पंचमहाभूत, सप्तधातु तथा त्रयोदाशाग्नि का हमारे शरीर के साथ सम्बन्ध, उनके प्रमुख कार्य एवं महत्त्व को जानेंगे।
- ❖ इस इकाई में आप पंचमहाभूत, सप्तधातु तथा त्रयोदाशाग्नि के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणाओं को जानेंगे ।

2.3 पंचमहाभूत का अर्थ एवं स्वरुप

पञ्चमहाभूत भारतीय दर्शन एवं विज्ञान के साथ-साथ भारतीय आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जो विश्व के सभी स्थावर-जंगम द्रव्य एवं मानव शरीर का निर्माण करने वाले पांच मूल तत्वों की विवेचना करता है। ये तत्व-**आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी** है । भू धातु में **क्त** प्रत्यय से निष्पन्न भूत शब्द से अभिप्राय सत्तावान या विद्यावान है। अर्थात् मानव शरीर भी इन पाँच तत्वों की सत्ता है। शरीर के विभिन्न भागों और कार्यों में इन तत्वों का अलग-अलग अनुपात तथा प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए, जल तत्व शरीर के तरल पदार्थों में पाया जाता है, जबकि पृथ्वी तत्व हड्डियों और मांसपेशियों में पाया जाता है, इसी प्रकार अन्य तत्त्व भी। आचार्य सुश्रुत ने पञ्चमहाभूतों से मानव शरीर निर्माण के विषय में कहा है कि चेतनावस्थित शुक्र- शोणित के संयोगभाव में विभाजन क्रिया वायु से, पाक-क्रिया तेज से, क्लेदन(आर्द्र स्थिति में रहने की) क्रिया में जल से, संहनन(ठोस स्थिति में बरतने की) क्रिया में पृथ्वी से तथा वृद्धि की क्रिया आकाश से संभव होती है- **तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथ्वी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति। (सुश्रुत शा०5/3)।**

आकाश-आकाश अर्थात् रिक्त या व्योम आदि पर्याय नामों से अभिधेयित आकाश तत्त्व को भारतीय दर्शन व आयुर्वेद में प्रथम तत्व माना जाता है।दार्शनिक ग्रंथों में आकाश को **शब्दात्त्वम्आकाशः** कहा गया है।दर्शन में आकाश तत्त्व की मीमांसा में उसे अन्य तत्त्वों(वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी)का उत्पादक कहा गया है। आकाश का गुण शब्द है अतः वह गर्भाश्रय में मनुष्य की शारीरिक वृद्धि के साथ-साथ उसमें शब्द को विकसित करता है एवं यह शब्द मनुष्य के परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी में विकसति होता है।

वायु-दार्शनिक ग्रंथों में वायु को**स्पर्शवान् वायु** कहागया है।वायु को समस्त ब्रह्माण्ड का प्राण तत्त्व कहा गया है। यह विश्व के सभी जैविक द्रव्य पदार्थो में गति या उर्जा का संचरण करता है।वायु गर्भाश्रय मानव शरीर के निर्माण के समय शुक्र-शोणित कणों की विभाजन क्रिया के साथ-साथ वात आदि के संतुलन का निर्धारण करता है।

अग्नि- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का उर्जा एवं तेज प्रदाता वायु तत्त्व कहा गया है।दार्शनिक ग्रंथों मेंअग्नि को**उष्णस्पर्श्वत्तेज**:कहा गया है।यह गर्मी, प्रकाश एवं ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करता है, तथा विश्व की सभी वस्तुओं को तप्त एवं सक्रिय रखता है। पृथ्वी पर सभी द्रव्य पदार्थ इसी तेज तत्त्व के माध्यम से वृद्धि तथा अंत गति को प्राप्त होते हैं। तेज तत्त्व के तीन भेदों (बड़वानल, दवानल, जठरानल) मेंमनुष्य के उदर में जठरानल के माध्यम से ही पाचक क्रिया संभव होती है।यह तत्त्व पाचक क्रिया को सम्पूर्ण करने के पश्चात रक्त आदि में भी तप्त गुण को विकसित करता है। अग्नि तत्त्व मनुष्य शरीर के निर्माण से पूर्व शुक्र से लेकर मानव शरीर की अंतगति तक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।इस दृष्टी से भारतीय आयुर्वेद में अग्नि तत्त्व को जीवनदायक तत्त्व कहा गया है।

जल-भारतीय दर्शन एवं विज्ञान में जल सर्वाधिक पूजनीय एवं पवित्र माना जाता है एवं उसे **शीतस्पर्श्वताप:** कहा गया है। पृथ्वी के विकास से पूर्व वह जल में स्थिर थी एवं प्रथम जीवों की उत्पत्ति का अधार जल तत्त्व ही था।जल विश्व के सभी तरल पदार्थों का प्रतिनिधित्व करता है, जो शरीर को हाइड्रेटेड रखता है और सभी जैविक प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक है। जल का गुण रस है एवं वह मनुष्य की जीह्वा में षड् रसों के रूप में निहित होता है। मनुष्य जन्म से पूर्व गर्भ में जल अत्तव के माध्यम से क्लेदन(आर्द्र स्थिति में रहने की) क्रिया संभव होती है।

पृथ्वी-जीवन को धारण करने वाली सभी दशाओं से युक्त पृथ्वी तत्त्व को दर्शन व आयुर्वेद में **तत्र गंधवती**कहा गया है।यह तत्त्व सभी ठोस पदार्थों अस्थि, मज्जा आदि का प्रतिनिधित्व करता है, शरीर को स्थिरता प्रदान करने वाले पदार्थों की संरचना में पृथ्वी तत्त्व की भूमिका मानी जाती है।

2.4 पंचमहाभूत का कार्य, प्रभाव एवं महत्त्व

भारतीय आयुर्वेद के अनुसार विश्व के सभी स्थावर जंगम द्रव्य एवं प्राणियों के शरीर का निर्माण पंचमहाभूतों से होता है। इनमें संसार के विविध चेतन व अचेतन पदार्थों की संरचना का निर्धारण पञ्चभूतों की समष्टि अर्थात् पंचीकृत भूतों से निर्मित होता है, परिणाम स्वरुप उनमें सर्वत्र पंचभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक गुणदृष्टीगतहोते हैं।पञ्चभूतों से उद्भूत पदार्थ आत्मा से सम्बंधित इन्द्रिय व्यापार के दृष्टीगत होने से कुछपदार्थ चेतन तथा इन्द्रिय व्यापार के आभाव में कुछ पदार्थ जड़ पदार्थ कहलाते हैं। आचार्य चरक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है-

सर्वं द्रव्यं पञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे तच्चेतनावदचेतनं च।

तस्य गुणा: शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ता।।

पञ्चभूतों से परिवृत या समाविष्ट जड़-चेतन के भेद प्रतिपादक रूप आधुनिक विज्ञान के समस्त लक्षण आचार्य चरक द्वारा सेंद्रिय तथा निरिन्द्रिय पद में सम्मिलित किया है-**सेंद्रिय चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनं।** निदर्शन रूप में-घट पदार्थ का निर्माण **पृथ्वी** तत्त्व अर्थात् मिट्टी, **जल**, **तेज** अर्थात् अग्नि, **वायु** एवं **आकाश** के संयोग से संभव है। इसी प्रकार बीज से अंकुरोत्पत्ति की क्रिया में मिट्टी, जल, ऊष्मा(गर्मी) अथवा प्रकाश, प्राणभूत वायु एवं रिक्त स्थान पौधे के तने,

पत्तियों आदि में सूक्ष्म छिद्रों की उपस्थितिका कारक आकाशतत्त्व की भूमिका रहती है ।यही प्रक्रिया मानव शरीर के निर्माण में रहती है, जिसका पूर्व में उल्लेख किया गया है।भारतीय दार्शनिक ग्रंथो में जिस प्रकार जड़ एवं चेतन जगत की उत्पत्ति पंचमहाभूतों के समिश्रण के परिणाम का उल्लेख है, उसी प्रकार आयुर्वेद में भी शरीर एवं शरीर के मूल आधारों- दोष, धातु, मल, की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से निर्मिति का विवेचन उपलब्ध होता है-**पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पंचभौतिकः। विपक्वः पंचधा सम्यक गुणान स्वानाभिवर्धयेत।।** (सू०सू० 46/526)इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी द्रव्यों में पंचभूतों की प्रधानता के साथ-साथ किसी एक की भी प्रधानता रहती है। इनके कार्य निम्न रूप में समझ सकते हैं-

1. आकाश भूत प्रधानता वाले द्रव्य **आकाशीय**, वायुभूत प्रधानता वाले द्रव्य **वायव्य**, अग्निभूत प्रधानता वाले द्रव्य **आग्नेय**, आप भूत प्रधानता वाले **जलीय**,पृथ्वीभूत प्रधानता वाले सभी पदार्थ **पार्थिव** कहलाते हैं। ये सभी द्रव्य अपने गुणों के अनुरूप ही यह प्राणीगत शरीर के निर्माण में सहायक होते हैं। **आकाशीय प्रधानता** वाले द्रव्य कोमल, हल्के, समतल एवं शब्दादि गुण से युक्त होते हैं ये शरीर में कोमलता, लघुता, चंचलता एवं छिद्रों आदि का विकास करता है। **वायव्य प्रधानता** वाले द्रव्य हल्के, शीतल, खुरदरे, चिपचिपे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण से युक्त होते हैं ये शरीर में घृणा, वृत्ति, गति, चिपचिपापन एवं उत्साह व स्फूर्ति को जागृत करना है।**तैजस प्रधानता** वाले द्रव्य गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हल्के,रूक्ष एवं रूप सौन्दर्य के गुणों से युक्त होते हैं।इनका कार्य चयापचय शक्ति, त्वचा में चमक एवं रंग की वृद्धि करना है। **आप्य या जलीय** द्रव्य तरल, स्निग्ध, ठण्डे, कोमल, स्निग्ध, दृढ़ता, नमीयुक्त गुणों से युक्त होते हैं। यह शरीर में कोमलता एवं आनद की वृद्धि करते हैं। **पार्थिव प्रधानता** वाले द्रव्य दृढ, स्थूल व गंध से युक्त होते हैं। यह शरीर में मोटापा, दृढ़ता, वजन एवं स्थूलता में वृद्धि करना है।

2. पंचभौतिक द्रव्यों के गुणों एवं शरीर की रचना के आधार पर दृष्टीगत होता है कि शरीर में मुख्यतः पृथ्वी एवं जल- ये दो महाभूत मुख्य रूप से विद्यमान हैं। शरीर का ठोस भाग पृथ्वी एवं द्रव भाग जल से,शेष भाग आकाश तथा आंशिक भाग वायु से निर्मित होता है।इसके अतिरिक्त जो भोज्य द्रव्य हम ग्रहण करते हैं, उनको पचाकर रस, रक्त, अस्थि, मज्जा आदि धातुओं में परवर्तित करने का कार्य अग्नि महाभूत करता है। साथ ही मानसिक चेष्टाओं का शरीर में विकास वायु महाभूत के कारण होता है।

3. शरीर में विद्यमान **त्रिदोष**(वात, पित्त एवं कफ), **धातु**(रस, रक्त, अस्थि, मज्जा आदि) एवं **मल**(मल, मूत्र तथा श्वेद) का निर्माण पञ्चमहाभूतो से होता है।

4.जिन खाद्य द्रव्यों से शरीर का पोषण होता है, उनका निर्माण भी पंचमहाभूतों से होता है, परिणाम स्वरुप ये शरीर में रस, गुण, वीर्य तथा विपाक आदि के रूप में दृष्टीगत होते हैं।

आयुर्वेद के पञ्चमहाभूत सिद्धांत में कार्य द्रव्यों का पार्थिव भेद, शरीर के विभिन्न धातुओं का संगठन, इनसे त्रिगुण(सत्त्व, रज, तम), त्रिदोषों(वात, पित्त, कफ) तथा त्रिमलों(मल, मूत्र, श्वेद) का निर्माण, षड रसों (तिक्त, कटु, कषाय, लवण, मधुर, अम्ल) का निर्माण, भ्रूण का विकास आदि सभी का उल्लेख होने से यह सिद्धांत वर्तमान समय में अति उपादेय है। इसी के माध्यम से हमें शारीरिक असंतुलन को उत्पन्न करने वाले विविध कारकों एवं उनके उपचारों का ज्ञान होता है। आयुरवेद में यदि केवल पञ्चमहाभूत सिद्धांत का व्यापक एवं विवेकपूर्ण गहन अनुशीलन किया जाय तो किसी अन्य सिद्धांत की जानने की अपेक्षा नहीं रह जाती।उपनिषदों में भी कहा गया है-**एकेन ज्ञातेन सर्वमिदं ज्ञात भवति।**

2.5 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का अर्थ एवं स्वरुप

एते शरीर धरणाद् धातव इत्युन्तन्ते के अधार पर मानव शरीर को धारण करने वाली ऊर्जात्मक शक्ति केकारण आयुर्वेदशास्त्र में इन्हें "धातु" पद से अभिधेयित किया जाता है।शरीर के निर्माण में इनकी प्रमुख भूमिका होती है, शरीर को पोषण प्रदान करने वाले तत्त्वों का निर्माण इन्ही धातुओं से होता है, इन्हीं धातुओं को मोलिक ऊतक कहा जाता है। इन धातुओं का सृजन पञ्चमहाभूतों के माध्यम से होता है तथा किसी न किसी धातु में एक महाभूत की प्रधानता रहती है-**तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पित्तस्थाग्निः कफस्यापः रक्तं माँस पार्थिव, मेदा जलपृथ्व्यात्मकय, अस्थि पृथ्व्यतिलात्यंक, मज्जा शुक्रं चाप्यम्।(सू० सं० 14/11)** आयुर्वेद में शरीर को पोषण प्रदान करने वाली इन धातुओं की की संख्या 07 मानी जाती है-रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र। इन धातुओं का निर्माण भी आकाशादि (आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी)की भाँति- रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा एवं मज्जा से शुक्र के सामान होता है।इन धातुओं को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

रस धातु-मनुष्य के द्वारा खाए गए भोजन का जठराग्नि के माध्यम से पाचन के पश्चात सारभूत तत्त्वों से ही रस धातु का निर्माण होता है। सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु द्वारा शरीर का स्नेहन, जीवन तर्पण को रस धातु के द्वारा धारण किया जाता है।

रक्त धातु-मानव शरीर में रस धातु की अग्नि आदि क्रियाओं के पश्चात रस धातु रूप रक्त वर्ण में परिणत हो जाने पर रक्त धातु का निर्माण होता है। रक्त धातु प्राणदाता धातु कहा गया है एवं प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने इस धातु को **रक्तम् जीवं इति स्थिति** कहा है। रक्त धातु शरीर के वर्ण के साथ-साथ माँस धातु का निर्माण करता है।

माँस धातु-मानव के स्वस्थ शरीर का ४१% भार माँस धातु के कारण ही निर्धारित होता है।"माँस शरीरं पुष्टि मेदसश्च पुष्टिं करोति"अर्थात् माँस धातु शरीर की पुष्टि के साथ ही मेद धातु का निर्माण भी करता है।

मेद धातु-मेद से तात्पर्य शरीर में व्याप्त अतिरिक्त वसा या चर्बी से है। मेद की अधिकता के कारण शरीर स्थूल बना रहता है एवं श्रमशीलता का आभाव पाया जाता है। मेद धातु शरीर को श्वेद, स्नेह, कोमलता, दृढ़ता एवं उष्णता प्रदान करने के साथ ही अस्थियों को पुष्ट करता है-**मेदः स्नेह श्वेदौ दृढ़त्वं पुष्टिमथनांच करोति।**

अस्थि धातु-मानव शरीर की संरचना का निर्माण अस्थि धातु से होता है। हमारे शरीर की माँस पेशियाँ अस्थि धातु से ही सन्निबद्ध होती है, अस्थि धातु मानव शरीर को धारण एवं सुदृढ़ करने के साथ ही मज्जा धातु का निर्माण करती है-**अस्थिनी देहधारणं मज्जः पुष्टि च।**

मज्जा धातु-आयुर्वेद के अनुसार मज्जा धातु दो प्रकार की मानी गई हैं- पीत्मज्जा तथा लाल मज्जा। पीत्मज्जा धातु नलिकायुक्त अस्थियों तथा लाल मज्जा धातु गर्भ में शिशु की अस्थियों के विवर में विद्यमान होता है। इस प्रकार मज्जा धातु सभी प्रकार के अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण एवं अस्थियों के विवर छिद्रों के भरण के साथ ही बल, शुक्र एवं रसादि का निर्माण करती है-**बलशुक्ररसश्लेष्मेदमज्जविवर्धनः। मज्जा विशेषोऽस्थे च बलहत् स्नेहने मतः।**

शुक्र धातु-पुरुष शरीर में व्याप्त शुक्र धातु स्फटिक आभा से युक्त द्रवित, स्निग्ध आदि गुणों के सदृश होता है, इस धातु को मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन का आधार माना जाता है। शुक्र धातु के

कारण ही शरीर में धैर्य निडरता, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण उत्साह, पुष्टि, सम्भोग समय आनंदानुभूति प्रमुख कार्य माने जाते हैं।

त्रयोदशाग्नि-आयुर्वेद के अनुसार आहार रूप में हम जिन प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन आदि तत्त्वों का सेवन का सेवन करते हैं, इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से शरीर में पुष्टि, बल, वर्ण, दीर्घायु की वृद्धि होती है, किन्तु ये तभी संभव होता है जब बाहरी प्रोटीन आदि युक्त पदार्थशरीर के आन्तरिक तत्त्वों में परिवर्तित हो जाएँ एवं इस परिवर्तन की क्रिया को संपन्न करने वाला तत्त्व **"अग्नि"** तत्त्व कहा गया है। अग्नि तत्त्व द्वारा संपन्न की गई यह क्रिया चयापचय कहलाती है-

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिता:।
अग्नौ प्रतिष्ठिता इति अग्न्यार्था: प्राणारिति वायवः।
यदन्नं देहधात्वोजोबल्वर्णादिपोषकम्
तत्राग्निर्हेतुराहन्न ह्यपक्वाद् रसोदयः ।।

चयापचय की क्रिया को संपन्न करने वाली 13 प्रकार की अग्नि में प्रथम प्रकार की अग्निको **जठराग्नि** द्वितीय प्रकार की **सात अग्नि धात्विक अग्नियाँ** तथा तृतीय प्रकार की **पांच भूताग्नियाँ** आयुर्वेद शास्त्र में प्रसिद्ध हैं-

1.जठराग्नि-इस अग्नि को पाचक अग्नि भी कहा जाता है। यह आमाशय एवं पक्वाशय अर्थात् छोटी आंत एवं बड़ी आंत के बीच नाभि प्रदेश में अवस्थित रहती होती है। भोजन रूप में हमारे द्वारा जिनते भी पदार्थ आहार रूप में लिए जाते हैं, उस भोजन को शीघ्र ही यह अग्नि सूक्ष्म खण्डों में परिवर्तित कर देती है। यह अग्नि पाक क्रिया द्वारा प्रारंभिक परिवर्तन कर आयु, वर्ण, स्वर, बल, उर्जा, उत्साह, ओजस, शारीरिक ताप में वृद्धि के साथ-साथ अन्य अग्नियों को भी क्रियाशील रखने में सहायक होती है।जठराग्नि के सुचारू रूप से क्रियाशील रहने में चार आवस्थाओं का साम्य होना आवश्यक है-

क. विषमाग्नि-जठराग्नि की इस अवस्था में अग्नि कभी तेज तथा कम हो जाती है, जिसके कारण भोजन का पाचन कभी मंद, कभी तीव्र एवं कभी शीघ्र हो जाता है, अग्नि की यह स्थिति वायु दोष के कारण होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट में शूल, कब्ज, जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट आदि की विकृति उत्पन्न हो जाती है-

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः।।
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धतुसाम्यं समं पवन्।
दुर्बलो विदहत्यन्न तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।।

ख. तीक्ष्णाग्नि-जठराग्नि की यह अवस्था अत्यधिक तीव्र होती है। यह अधिक मात्रा में खाए हुए अन्न का समय से पाचन कर लेती है, इस अग्नि को आयुर्वेद में भस्मक अग्नि के नाम से भी जाना जाता है, जठराग्नि की यह अवस्था पित्त दोष की अधिकता के कारण होती है, जिसमें रोगी के गले, होंठों तथा तालु में शुष्कता(सूखापन) उत्पन्न हो जाता है एवं भोजन पाचन के बाद यह अग्नि गले में शोष एवं दाह, होंठों में सूखापन एवं दाह एवं तालु में जलन एवं संताप को उत्पन्न कराती है।

ग. मन्दाग्नि-जठराग्नि की इस अवस्था में अग्नि बहुत मंद होती है एवं पित्तदोष की अधिकता के कारण यह कम खाए हुए भोजन को भी ठीक प्रकार से पचा नहीं पाती, जिसके परिणाम

स्वरुप पेट एवं शिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, मुंह से लार, वमन(उल्टी) एवं कमजोरी आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

घ.समाग्नि-इस प्रकार की जठराग्नि समय पर उचितमात्रा में खाए हुए भोजन का पाचन कर लेती है एवं यह अवस्था जठराग्नि में तीनो दोषों(वात, पित्त एवं) की साम्यता के कारण होता है, जिसके परिणाम स्वरुप व्यक्ति शरीर में पुष्टता एवं उचित स्वस्थता का अनुभव करता है।

2.पञ्च भूताग्नियाँ-आयुर्वेदिक शास्त्रों में पांच प्रकार की भूताग्नियों का उल्लेख उपलब्ध होता है-**भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि** एवं **आकाशाग्नि**। ये पञ्च भूताग्नियाँ जठराग्नि द्वारा सूक्ष्म रूप में परिवर्तित खाद्य पदार्थ को शरीर के अनुरूप सजातीय रस में परिवर्तित करती हैं। पंचाग्नियों का इस समूह से यकृत में विद्यमान अन्य अग्नियों के संयोग से भोजन को पांच श्रेणियों में विभाजित हो जाता है, जिसमें पञ्च भूत की प्रधानता होती है एवं ये सभी मिलकर शरीर का निर्माण तथा उसका पोषण करते हैं।

3.सप्त धत्वाग्नियाँ-अग्नियों में तृतीय प्रकार का समूह सप्त धात्वग्नियाँ का है। यकृत में पंचमहाभूत के रूप में परिवर्तित हुए भोजन अन्नरस धात्वाशयों (रसवह,रक्तवह आदि स्रोतों) में पहुँचता है, वहां विद्यमान अग्नियाँ इसका पुनः पाचन करती हैं।इससे यह भोज्य पदार्थ रस, रक्त आदि धातुओं में परिवर्तित हो जाता है। ये धातुएँ संख्या में सात होती हैं एवं इन्ही धातुओं की सात अग्नियाँ कही गई हैं-**रसाग्नि, रक्ताग्नि, माँसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थ्यिाग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि।** ये भी पाचन क्रिया में सक्रिय रहती हैं एवं खाद्य पदार्थों से स्व-स्व पोषक तत्त्वों को ग्रहण कर उसे रस, रक्त, मज्जा, माँस, अस्थि आदि में परिवर्तित करती हैं।

इस प्रकार त्रयोदाशाग्नि का यह समूह शरीर का पोषण करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनके कार्य, प्रभाव एवं महत्त्व के विषय में अगले अध्याय में वर्णन किया जाएगा।

2.6 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का कार्य प्रभाव एवं महत्त्व ,

आयुर्वेद में सप्तधातु (रस, रक्त, माँस, मज्जा, मेद, अस्थि एवं शुक्र) एवं त्रयोदाशाग्नि (जठराग्नि, पञ्चभूताग्नि एवं सप्तधत्वाग्नि) का कार्य शरीर को पोषण एवं पुष्ट करना है। पूर्वोक्त अध्याय में इनके अर्थ एवं स्वरुप के सम्बन्ध के विषय में वर्णन किया गया जिसमें इनके अर्थ एवं स्वरुप प्रतिपादन के साथ इनके कार्य संबंधी तथ्यों का तिरोभाव हो जाता है। अब इनके प्रभाव एवं महत्त्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं-

1.रस धातु सस्म्पूर्ण शरीर में स्नेहन एवं जीवन को धारण करने का कार्य करती है किन्तु कदाचिद रस धातु की कमी या अधिकता के कारण यह शरीर में पाचन क्रिया में दोष उत्पन्न करने के साथ-साथ शरीर में शिथिलता, श्वशन क्रिया में अवरोध, थकान, रूखापन, हृदयरोग, पीलापन, दुर्बलता केशों का सफ़ेद होना आदि रोगों को उत्पन्न कर लेती है। **रक्त** धातु माँस धातु का निर्माण करती है। स्वस्थ व्यक्ति का रक्त न अधिक गाढ़ा, न पतला एवं न अधिक पतला होता है। अतः रक्त का सामान्य रहना उचित होता है। रक्त की कमी एवं अधिकता के कारण रक्त कैंसर, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, कोठ, पीलिया, वातरक्त इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

2.माँस धातुका कार्य शरीर की पुष्टि एवं सुरक्षा के साथ-साथ मेद धातु का निर्माण करना है। माँस धातु में वृद्धि से शरीर भारी, स्थूल एवं विकृत आकार का प्रतीत होता हैतथा कमी के कारण दुबलापन एवं शुष्क होता है।माँस वृद्धि के लिए वसा युक्त भोजन एवं कमी के लिए योगाभ्यास आदि करना चाहिए।

3.मेद धातु शरीर को स्नेहन, कोमलता तथा अस्थियों को मजबूत करने का कार्य करती है।मेद धातु की कमी से सूखापन,जोड़ों का दर्द, अधिक श्वेद आना, कंठ एवं तालु का शुष्क होना इत्यादि लक्षण दृष्टीगत होते हैं। मेद धातु की वृद्धि से स्थूल काय को सामान्य बनाने हेतु योगाभ्यास एवं व्यायाम करना चाहिए तथा मेद की कमी में घृत तथा ढूध को आहार रूप में लेना चाहिए।

4.मानव शरीर की संरचना में **अस्थि** धातु की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।किन्तु अस्थियों की अधिकता के कारण शरीर में पीड़ा, शमश्रु, नाखुनों में विकार एवं कमी के कारण जोड़ों में पीड़ा, दांतों का टूटना इत्यादि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। अस्थि धातु की वृद्धि में तिक्त पदार्थों का सेवन कम करना चाहिए एवं कमी में दूध, दही, पनीर आदि के सेवन के साथ-साथ प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का ताप लेना चाहिए ।

5.मज्जा धातु का मुख्य कार्य अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण एवं अस्थियों के विवर छिद्रों को भरना है। मज्जा धातु की वृद्धि से शरीर में फोड़े, मूर्च्छा, आँखों से सम्बंधित रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा कमी आदि से हड्डियों का खोखलापन एवं उनका टूटना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। अतः मज्जा के क्षय होने पर मज्जा प्रधान से युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

6.शुक्र धातु शरीर के प्रारम्भिक निर्माण का आधार होता है। शुक्र धातु की वृद्धि के कारण कामवासना की अधिकता, अधिक स्खलन तथा कमी के कारण शारीरिक दुर्बलता, लिंग में जलन एवं सम्भोग के समय शुक्र का श्राव न होना, जिस कारण मनुष्य में नपुंसकता आदि की समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। अतः शुक्र की कमी होने पर संतुलित आहार का सेवन करना चाहिए।

7.जठराग्नि का कार्य पाचक क्रिया के साथ-साथ अन्य द्वादश अग्नियों (पंचभूत एवं सप्तदश) को क्रियाशील रखना है। उदर में अवस्थित यह उसकी चार अवस्थाओं-विषम, तीक्ष्ण, मंद एवं समाग्नि। पर निर्भर है।**विषम** अग्नि की कभी तीव्र तथा कभी कम गति के कारणपेट में शूल, कब्ज, जलोदर,पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट आदि समस्याएं उत्पन्न कर देती हैं।**तीक्ष्ण** अवस्था में भोजन तीव्र गति से पाचता है एवं इसके परिणाम स्वरुप गले में सूखापन, ओठ लगना तथा अत्यधिक गर्मी का अनुभव होने लगता है।**मंद** अवस्था के कारण भोजन धीमी गति से पचता है जिससे पेट एवं शिर के अंगों में भारीपन, वमन होना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। जठराग्नि की सम अवस्था में भोजन उचित मात्र में पचता है एवं तीनों दोषों की साम्यता के कारण शरीर स्वस्थ रहता है।

8.पञ्च एवं सप्त भूताग्नियाँ एक दूसरे का संयोग कर शरीर को पुष्टता एवं पोषण प्रदान करने का कार्य करती हैं। ये समस्त अग्नियाँ यदि नष्ट हो जाएँ तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। अतः इन सभी को सुचारू रूप में क्रियाशील रहने हेतु मनुष्य को पौष्टिक तथा उचित मात्रा में स्वच्छ खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

2.7 पंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि सम्बंधित अवधारणा

पञ्चमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदाशाग्नि से सम्बंधित अवधारण आयुर्वेद परंपरा में अति प्राचीन है-इसमें प्राणिजगत के शरीर के जन्म, पालन तथा अंत अवस्था में इन सभीपंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्निके संयोग तथा विघटन क्रिया का अति महत्त्व है।वेदों, पुराणों, दार्शनिक ग्रंथों-सांख्य, श्रीमद्भगवत गीता आदि ग्रंथों में जहाँ एक ओर पञ्च महाभूतों एवं सूक्ष्म, कारण एवं स्थूल शरीर तथा इन्द्रिय, मन आदि का उल्लेख किया गया है वहीं दूसरी

ओर आयुर्वेद में इन पंचमहाभूतों(**आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी)** से शरीर के निर्माण एवं उसका पोषण करने वाली विभिन्नत्रयोदाशाग्नि में सप्त(**रसाग्नि, रक्ताग्नि, माँसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थि्याग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि।**) एवं पञ्च महाभूताग्नियों(**भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि** एवं **आकाशाग्नि**।)का अध्ययन किया जाता है।मनुष्य के त्रिविध दुखों आध्यात्मिक, आदिभौतिकतथा आदिदैविक दुख भी कहीं न कहीं इन सभी भूतों एवं तत्वों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहते हैं। इनका विवेचन जहाँ दर्शन व गीता आदि ग्रंथो का विषय है वही दूसरी ओर आयुर्वेद इन सभी दुखों की चिकित्सा की मीमांसा करता है। आयुर्वेद की परंपरागत उपर्युक्त विषयों से सम्बंधित अवधारणा प्राचीन होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी है- मनुष्य द्वारा खाए गए अन्न को उदर में जठराग्नि, पंचभूताग्नियों, सप्तधातु अग्नि की क्रियाशील प्रक्रिया इसका उपयुक्त उदाहरण है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया गया है।

2.8 सारांश

मनुष्य की त्रिविध दुखों की आत्यंतिक निवृत्ति का उपाय जिस प्रकार वेद एवं दर्शानादि ग्रंथों में विद्यमान है,उसी प्रकार आयुर्वेद में इन दुखों की चिकित्सा मीमांसा की गई है। उसमें भी प्रथम आदि भौतिक दुखों के विविध उपचार आयुर्वेदिक ग्रंथों में उल्लेखित हैं, आदि भौंतिक दुखों को मनुष्य प्रकृति के वातावरण में रहते हुए भोगता है एवं भोगने की शक्ति को धारण करने वाला उसका शरीर है।अर्थात् भौंतिक दुखों का प्रथम उपचार या समाधान होने पर व्यक्ति स्वतः ही मानसिक रूप से सुदृढ़ होता है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही अन्तः मनोगत समस्याओं के निराकरण करने वाली शक्ति को शरीर धारण करता है। इस दृष्टी से प्रस्तुत इकाई में हमने आयुर्वेद में त्रिमल, त्रिदोष, पंचभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्निका अर्थ एवं उनका स्वरुप तथा आपस में सह-सम्बन्ध, उनके कार्य, प्रभाव व महत्त्व के साथ-साथ उनकी भारतीय ज्ञान परम्परा को पुष्ट करने वाले वेद, दर्शन, श्रीमद्भगवत गीता आदि में उद्धृत अवधारणा का अध्ययन किया।

2.9 शब्दावली

तीक्ष्ण	तीव्र
जठराग्नि	यकृत की अग्नि
मेद	वसा या चर्बी
पार्थिव	पृथ्वी भूत प्रधानता वाले तत्त्व
गंधवती	गंध वाली पृथ्वी
भौमाग्निपृथ्वी	भूत अग्नि
मज्जा अस्थियों के विवर	छिद्रों में विद्यमान पदार्थ
अस्थि्याग्नि	अस्थियों का पोषण करने वाली अग्नि

अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय

1.निम्न में से एक सप्त धातुओं में से नहीं है-

क.रस ख.रक्त ग.मज्जा घ.ऊतक द्रव्य

2.निम्न खाए-पीये अन्न को पचाने वाली अग्नि है-

क.जठराग्नि ख. वायव्यग्नि ग. पार्थिवाग्नि घ. तेजाग्नि

3.मानव शरीर का निर्माण करने वाली धातु कहलाती है-

क. रस ख.शुक्र ग.मज्जा घ.ऊतक द्रव्य

4.त्रयोदाशाग्नियों में अग्नियों में तृतीय प्रकार का समूह क्या कहलाता है?

क. जठराग्नि ख.पञ्च भूताग्नि ग.सप्त धात्वाग्नि घ.इनमे से कोई नहीं

5.किस अग्नि के विषम गति के कारण पेट में शूल, कब्ज, जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट आदि की विकृति उत्पन्न हो जाती है-

क. जठराग्नि ख.तीक्ष्णग्नि ग.समाग्नि घ.विषमाग्नि

रिक्तस्थान

1.....अवस्था के कारण भोजन धीमी गति से पचता है जिससे पेट एवं शिर के अंगों में भारीपन, वमन होना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

2.अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण एवं अस्थियों के विवर छिद्रों को भरने काकार्य.....करती है।

3.मानव शरीर में धात्वग्नियों की संख्या.....है।

4. अस्थिनी..... मज्जः..... च।

5. शीतस्पर्श्वताप: लक्षण है.....।

सत्य/असत्य

1.शरीर का निर्माण करने वाली पञ्चमहाभूत धातुएँ होती हैं।( )

2.शरीर में विद्यमान अग्नियों की संख्या 15 है।( )

3.मनुष्य के त्रिविध दुखों आध्यात्मिक, आदिभौतिक तथा आदिदैविक दुख भी कहीं न कहीं इन सभी भूतों एवं तत्वों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहते हैं।( )

4.मनुष्य के द्वारा खाए गए भोजन का जठराग्नि के माध्यम से पाचन के पश्चात सारभूत तत्त्वों से ही रक्त धातु का निर्माण होता है। ( )

5.धातुओं की सात अग्नियाँ कही गई हैं-रसाग्नि, रक्ताग्नि, माँसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थ्यिाग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि। ( )

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय

1. घ.ऊतक द्रव्य
2. क.जठराग्नि
3. ख.शुक्र
4.ग.सप्त धात्वाग्नि
5. घ.विषमाग्नि

रिक्तस्थान

1.मन्दाग्नि
2.मज्जा
3.सात
4.देहधारिणी, पुष्टि
5.जल का

सत्य/असत्य

1.सत्य

2.असत्य

3.सत्य

4.असत्य

5.सत्य

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत शास्त्रों का इतिहास-उपाध्याय बलदेव, हिमालयन प्रेस गणेश सोसाइटी वाराणसी

2.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय पर आधारित "स्वदेशी चिकित्सा"- दीक्षित राजीव, स्वदेशी प्रकाशन सेवाग्राम वर्धा (गुजरात) सं0 २०१२

3.आयुर्वेद सिद्धांत रहस्य- आचार्य बालकृष्ण, पाण्डेय प्रेमदत्त द्वारा संपादित।

4.अग्निवेश प्रणीत चरक संहिता- अनुवादक, गुप्ता अत्रिदेव जी, भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस।

5.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय-श्री कृष्णलाल, मुंबई प्रकाशन महाराष्ट्र।

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.पञ्चमहाभूतों के अर्थ स्वरुप एवं कार्य को स्पष्ट कीजिये।

2.त्रयोदाशाग्नि के अन्तः शारीरिक कार्यों का उल्लेख कीजिये।

3.आयुर्वेद में सप्त धातु सिद्धांत की विवेचना कीजिये।

4.शरीर निर्माण में पंचभूतों का की भूमिका को स्पष्ट कीजिये।

5.मानव शरीर में पंचभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदाशाग्नि की कार्य प्रणाली का उल्लेख कीजिये।

इकाई-3 आयुर्वेद के महत्वपूर्ण औषधीय वृक्ष एवं उनके गुण

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 औषधीय वृक्षों का महत्त्व
3.4 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग
3.4.1 आयुर्वेदिक औषधीय मसालों के गुण एवं उपयोग
3.4.2 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग
3.5 सारांश
3.6 पारिभाषिक शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों !

आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त कार्यक्रम (BASL (N)-350 नामक पाठ्यक्रम के खण्ड द्वितीय से सम्बन्धित यह तृतीय इकाई है। इस खण्ड में औषधीय वृक्षों के गुणों के स्वरूप का वर्णन किया गया हैं। इस इकाई में आप औषधीय वृक्षों के आयुर्वेदिक गुणों का अध्ययन करेंगे।

प्रस्तुत इकाई औषधीय वृक्षों के गुण से सम्बन्धित है। औषधीय वृक्षों का उपयोग पूर्वकाल से ही पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में एवं अनुसंधान के लिए किया जाता रहा हैं। वेदों में असंख्य औषधीय वृक्षों की दवाओं का वर्णन है। औषधीय पौधों का प्रयोग दवाओं के संग्रह के लिया किया जाता रहा है। इस इकाई में आप औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- औषधीय वृक्षों के महत्त्व को जान सकेंगे।
- औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग के विषय में अवगत हो सकेंगे।
- औषधीय वृक्षों के आयुर्वेदिक गुणों से अवगत हो सकेंगे।

3.3 औषधीय वृक्षों का महत्त्व

प्राचीनकाल से ही मनुष्य रोग से बचाव एवं उपचार के लिये विभिन्न प्रकार के पौधों का उपयोग करता आया है। पौधों की जड़ें, तने, पत्तियाँ, फूल, फल, बीज और यहाँ तक कि छाल का उपयोग भी उपचार के लिये किया जाता है। पौधों का यह औषधीय गुण उनमें उपस्थित कुछ रासायनिक पदार्थों से होता है जिनकी मानव शरीर पर विशिष्ट क्रिया होती है। मुख्य औषधीय पौधे एरगोट, एकोनाइट, मुलेठी, जलाप, हींग, मदार, सिया, लहसुन, अदरक, हल्दी, चंदन, बेलाडोना, तुलसी, नीम, अफीम, क्वीनाइन, इत्यादि हैं। औषधीय पौधों का आज आयुर्वेदिक और सिद्ध दवाओं में बहुत उपयोग किया जाता है। ये हानिरहित हैं और घर पर आसानी से उगाए जा सकते हैं।

3.4 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग

औषधीय वृक्षों का मानव स्वास्थ्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है, और इनका उपयोग प्राचीन काल से विभिन्न रोगों के उपचार के लिए किया जाता रहा है। आयुर्वेदिक औषधियॉ इस तथ्य पर आधारित है कि मानव शरीर में भौतिक तथा आत्मिक सभ्यता आवश्यक है। इस साभ्यता को विभिन्न विधियों से सम अवस्था में रख सकते हैं तथा इसको सम रखना आवश्यक भी है। दोषों को सम अवस्था में रखने के लिए भोजन के साथ विभिन्न मसालों का प्रयोग करना चाहिए भोजन में प्रयोग होने वाले मसाले ऊष्ण या शीत होते हैं जो कि पाचन तंत्र को सुचारू रखते हैं। एक मसाले में छः रसों में से कोई एक या अधिक रस हो सकते है। ये है मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। प्रायः मसाले कटु रस प्रधान सुगंधित तेलों से युक्त हुए होते हैं जो कि विभिन्न मसालों के वृक्षों के फल, त्वचा, मूल, बीज, तना, छाल आदि होते हैं। इनका प्रयोग भोजन को सुगंधित व सुस्वाद बनाने के लिए होता है। आयुर्वेद में मसालों एवं औषधीय वृक्षों का बहुत महत्व है। औषधीय मसालों एवं वृक्षों का महत्त्व स्वास्थ्यवर्धक गुणों के लिए अति

महत्वपूर्ण है। नीचे कुछ प्रमुख औषधीय वृक्षों एवं मसालों के गुण और उनके उपयोगों के बारे में जानकारी दी जा रही है। इन औषधीय वृक्षों का सही और संतुलित उपयोग स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर सकता है। हालांकि इनका उपयोग करने से पहले किसी आयुर्वेदिक विशेषज्ञ या डॉक्टर से परामर्श लेना भी उचित होगा।

3.4.1 आयुर्वेदिक औषधीय मसालों के गुण एवं उपयोग—

जड़ी-बूटियाँ और मसाले अपने औषधीय गुणों के लिए जाने जाते हैं और इनका प्रयोग प्राचीन काल से पारंपरिक दवाओं में किया जाता रहा है। कई जड़ी-बूटियों और मसालों के आवश्यक तेलों का उपयोग दवाइयों की तैयारी में किया जाता है। धनिया के आवश्यक तेल को एनाल्जेसिक, डिल और सौंफ के तेल को ज्वरनाशक, धनिया, अजवाइन, अजमोद और जीरे के तेल को सूजनरोधी बताया गया है। हाल ही में जीरे और तुलसी के आवश्यक तेलों में कैंसररोधी गुण पाए गए हैं, और इनका उपयोग कैंसरजनन के खिलाफ़ सुरक्षात्मक तत्व के रूप में किया जा सकता है। हर्बल मसालों के महत्वपूर्ण औषधीय गुणों का वर्णन नीचे दिया जा रहा हैं।

हल्दी—

यह तिक्त, कटु, कषाय रस वाला द्रव्य है। यह प्रमेह तथा अनूर्जता की अच्छी औषधि है। बहुमूत्रता, मधुमेह तथा त्वचा रोग में लाभकारी है। यह पाचन शक्ति को बढ़ाती है। अधिक खाने पर वात पित्तवर्धक तथा कफ हर है। अपने सक्रिय यौगिक करक्यूमिन के लिए जानी जाने वाली हल्दी एक शक्तिशाली सूजनरोधी और एंटीऑक्सीडेंट है जिसका उपयोग पारंपरिक चिकित्सा में गठिया और पाचन समस्याओं सहित विभिन्न स्थितियों को कम करने के लिए किया जाता है। हल्दी में मुख्य यौगिक करक्यूमिन है, जो अत्यंत एंटीऑक्सीडेंट है। करक्यूमिन हल्दी को एंटी-इंफ्लेमेटरी, एंटी-सेप्टिक और एंटी-कार्सिनोजेनिक गुण देता है और यहां तक कि इससे सौंदर्य लाभ निकालने में भी मदद करता है।

कालीमिर्च—

यह ऊष्णवीर्य कटु रस प्रधान औषधि है। यह पाचन शक्ति बढ़ाती है तथा पित्त की वृद्धि करती है। वात को चलायमान तथा कफ का छेदन (शरीर से निकालना) करती है। इसका वानस्पतिक नाम पाइपर नाइग्रम (Piper nigrum) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. कफवातजन्य विकारों में लाभकर है।
2. नाड़ी दौर्बल्य, हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।
3. मूत्रकृच्छ, रजोरोध में लाभकर है।
4. प्रतिश्याय, कास, श्वास में उपयोगी है।
5. कुष्ठ, चर्मरोगों में लेप करते हैं।
6. शीतज्वर में इसका प्रयोग लाभकर है।

लौंग—

लवंग या लौंग ऊष्ण वीर्य औषधि है तथा पाचन में वृद्धि करती है। विभिन्न भोजन द्रव्यों में इसे स्वाद बढ़ाने एवं सुगंध बढ़ाने के लिए प्रयोग करते हैं। यह पित्त को बढ़ाता है तथा वात, कफ को कम करता है। इसका वानस्पतिक नाम- कारियोफालस् एरोमेटिकस् (Caryophyllus aromaticus) है। इसका प्रयोज्य अंग कली है।

उपयोग—

1. शिरःशूल तथा प्रतिश्याय में ललाट पर इसका लेप लगाते हैं।
2. मुख व कण्ठरोगों में चूसते है। दॉत दर्द में इसका लेप लाभदायक है।
3. अरुचि, अग्निमांद्य, उदरशूल, अम्लपित में लाभदायक है।
4. यह शुकस्तम्भन है। स्तन्यवृद्धि और स्तन्यशोधन के लिए उपयोगी है।
5. मूत्रकृच्छ, चर्मरागों तथा ज्वर में लाभदायक है।

धनियाँ—

कटु एवं कषाय रस प्रधान है। यह शीतलता प्रदान करता है। यह मधुर, तैलीय, शुष्क एवं लघु है। यह मूत्रदाह तथा कष्ट से मूत्र उतरने के लक्षण को कम करता है। भोजन के आभूषण की शक्ति को बढ़ाता है। वात एवं कफ की वृद्धि करता है तथा पित्त को शान्त करता है। इसका वानस्पतिक नाम केरिएण्डर सटाइवम् (Coriander Sativum) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज और पत्र है।

उपयोग—

1. मुखपाक व गले के रोगों में इसके रस का गंडूष करते है। नासागत रक्तस्राव में इसका नस्य देते है।
2. इसका क्षीरपाक भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिहास में लाभकर है।
3. मूत्रकृच्छ, प्रमेह तथा ज्वर में लाभदायक है।

मेथी—

यह तिक्त एवं कषाय रस वाली है। यह रूक्ष तथा ऊष्ण वीर्य प्रधान मसालों में आती है जो कि ज्वर तथा वात रोगों को दूर करती है। अधिक मात्रा में लेने से यह वात तथा पित्त को बढ़ाती है तथा कफ को घटाती है। जोड़ों के दर्द तथा मधुमेह में लाभदायक है। इसका वानस्पतिक नाम- ट्राइगोनेल्ला फोएनम् (Triganella foenum graecum) है। इसका प्रयोज्य अंग पत्र, बीज है।

उपयोग—

1. वातशामक है। पीड़ा, शोथ विद्रधि में इसे पीसकर गर्म लेप लगाते है।
2. नाडीदौर्बल्य, अग्निमांद्य, शूल में चूर्ण प्रयोग करते हैं।
3. प्रसव के बाद स्तन्यवृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है।
4. दौर्बल्य में भी लाभकर है।

सौंफ—

सौंफ एक मसाला है। सौंफ का उपयोग मुंह को शुद्ध करने और घरेलू औषधि के रूप में होता आ रहा है। इसका पौधा लगभग एक मीटर ऊंचा तथा सुगन्धित होता है। इसका वानस्पतिक नाम फिनिक्यूलम् वलगेरी (foeniculum Vulgare) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. वमन, तृष्णा, अजीर्ण, उदरशूल व प्रवाहिका में प्रयोग किया जाता है।
2. यह श्वास, कास, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ में लाभकर है।
3. स्तन्याल्पता में तथा शुक वृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है।

अजवाइन—

अजवायन (Thyme) एक झाड़ीनुमा वनस्पति है जो मसाला एवं औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है। छोटे पैमाने पर इसकी खेती की जाती है। अजवायन मधुमक्खियों के लिए एक वरदान है। अजवायन मधुमक्खी में कई रोगों में काम आता है जैसे माइट, रोबिन फ़ास्ट वर्किंग जैसे काम करता हैं। इसका वानस्पतिक नाम ट्रेकीस्पर्मम् अम्मी (Trachyspermum ammi) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. यह कफवात विकारों में प्रयुक्त होता है।
2. इसका लेप या तेल का अभ्यंग शोथ वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। आध्मान में लेप या पोटली बना कर सकते हैं।
3. जीर्ण कास, श्वास में इसका चूर्ण देते है।
4. मूत्राघात कष्टार्तव तथा सूतिकारोग में उपयोगी हैं।
5. यह त्वक् दोषों में प्रयुक्त होता है।
6. उद्वेष्टन रोधी होने से उदर शूल में लाभकारी है, अजीर्ण से उत्पन्न विकारों में अजवायन चूर्ण एवं सेंधानमक मिलाकर देने से लाभ होता है।

इलायची—

यह मधुर एवं तीक्ष्ण स्वाद की औषधि है। यह शरीर में ऊष्णता प्रदान करती है तथा पाचन शक्ति को बढ़ाती है। यह हृदय के लिए उत्तम है तथा श्वास की दुर्गन्ध को दूर करती है। अधिक मात्रा में लेने पर यह पित्त को बढ़ाती है। यह वात एवं कफ को शान्त करती है।

जीरा—

यह तिक्त, कटु एवं कषाय रस प्रधान द्रव्य है यह उष्णता प्रदान करने वाली औषधि है तथा लघु तैलीय है। यह अतिसार को दूर करता है एवं पाचन शक्ति बढ़ाता है। यह पित्त को बढ़ाता है तथा एवं कफ का शमन करता है।

लहसुन—

यह कटु रस प्रधान तीक्ष्ण स्वाद की औषधि है। यह ऊष्ण वीर्य प्रधान है। यह तैलीय तथा गुरू होता है। वात रोग की अच्छी औषधि है। खाँसी को दूर करती है। यह पित्त को बढ़ाती है तथा वात कफ शामक है। रक्तगत कोलेस्टेरॉल को घटाता है।

अदरक—

कटु रस प्रधान एवं उष्ण वीर्य युक्त औषधि द्रव्य है। यह मधुर, शुष्क तथा रूक्ष है। भूख एवं पाचन शक्ति को बढ़ाता है। अधिक मात्रा में खाने से पित्त वर्धक है। यह वात एवं कफ का शमन करता है। अदरक में जिंजरोल होता है, जो इसे कई औषधीय गुण प्रदान करता है। शक्तिशाली एंटीऑक्सीडेंट, सूजन-रोधी और मधुमेह-विरोधी गुणों से भरपूर होने के अलावा, अदरक ऑस्टियोआर्थराइटिस (OA) में भी मदद करता है। अदरक मस्तिष्क की कार्यप्रणाली को बढ़ाता है और अल्जाइमर के खतरे को कम करता है, साथ ही यह संक्रमण के जोखिम को कम करने वाला एजेंट भी है। इस जड़ का उपयोग आमतौर पर पाचन में सहायता, मतली को कम करने और फ्लू और सामान्य सर्दी से लड़ने के लिए किया जाता है। इसमें एंटी-इंफ्लेमेटरी गुण भी मौजूद होते हैं। कच्ची अदरक को सेंधा नमक के साथ भोजन के प्रारम्भ में लेना चाहिए।

अलसी के बीज—

ओमेगा-3 फैटी एसिड और फाइबर से भरपूर, अलसी के बीज विविध स्वास्थ्य लाभ प्रदान करते हैं। उनकी ओमेगा -3 सामग्री हृदय स्वास्थ्य का समर्थन करती है, जबकि फाइबर पाचन और आंत स्वास्थ्य में सहायता करता है। अलसी के बीज के लिगनेन एंटीऑक्सीडेंट गुण प्रदान करते हैं, जो संभावित रूप से कैंसर के खतरे को कम करते हैं। वे कोलेस्ट्रॉल विनियमन, रक्त शर्करा नियंत्रण में भी योगदान देते हैं और अपने तृप्तिकारी प्रभाव के कारण वजन प्रबंधन में सहायता कर सकते हैं। अलसी के बीजों का नियमित सेवन समग्र स्वास्थ्य रखरखाव के लिए कई प्रकार के स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर सकता है।

सरसों के बीज—

तीक्ष्ण उष्ण द्रव्य है यह तैलीय लघु एवं चरपरे स्वाद का है। यह माँसपेशियों की पीड़ा को दूर करता है। इसके बीज पित्तवर्धक है तथा वात एवं कफ को कम करते हैं।

केसर—

यह कषाय रस प्रधान तथा शीतवीर्य औषधि है। इससे अर्श में भी लाभ होता है। यह वात कफ वर्धक तथा पित्त नाशक है एवं बलकारक है।

लवण—

यह ऊष्ण, लवण, भारी, एवं रूक्ष है तथा रूचिकर एवं पाचन शक्ति वर्धक है। यह अधिक मात्रा में खाने पर उच्च रक्तचाप करता है तथा पानी का शरीर से उत्सर्जन कम कर देता है। यह वातहर तथा कफपित्त वर्धक है।

हींग—

हींग का उपयोग करी, सॉसों व अचारों में सुगन्ध लाने के लिए होता है। इसके प्रतिजैविकी गुण के कारण इसे दवाइयों में भी प्रयुक्त किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम फेरूला नारथेक्स (Ferula nartherx) है। इसका प्रयोज्य अंग निर्यास है।

उपयोग—

1. यह दीपन पाचन एवं वातानुलोमक है। आध्मान एवं उदर मूल में इसका उपयोग करते हैं।
2. आध्मान में उदर पर हींग का लेप करते हैं। श्वास कास में छाती पर लेप करते है।
3. रजः कृच्छ में तथा प्रसव के बाद देने से गर्भाशय शुद्ध होता है।
4. मूत्राघात, विषमज्वर तथा कण्डु में लाभप्रद है।

अश्वगंधा—

अश्वगंधा, एक एडाप्टोजेनिक जड़ी बूटी, असंख्य लाभ प्रदान करती है। इसके तनाव कम करने वाले गुण कोर्टिसोल के स्तर को प्रबंधित करने, विश्राम को बढ़ावा देने और संभावित रूप से चिंता और अवसाद को कम करने में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त, यह प्रतिरक्षा को बढ़ाता है, ऊर्जा के स्तर को बढ़ाता है और संज्ञानात्मक कार्यों में सहायता करता है। अश्वगंधा की हार्मोन को संतुलित करने की क्षमता समग्र स्वास्थ्य पर इसके सकारात्मक प्रभाव में भी योगदान देती है।

हरे पत्तेदार मसाले—

कुछ वनस्पतियों भोजन को सुगंधित करने, सुरूचि पैदा करने उनकी स्वास्थ्यवर्धक शक्ति को बढ़ाने तथा उनके औषधीय गुण को बढ़ाने का कार्य करती है। उदाहरणार्थ धनियाँ के हरे पत्ते, पोदीना पत्र, मूलीपत्र, हरा प्याज आदि। ये गर्मी से कम प्रभाव व कम सुगंध वाले हो जाते है इसलिए इनको कच्चा ही ऊपर से भोजन के पकने के बाद डाला जाता है।

तुलसी—

भारतीय संस्कृति में तुलसी को पूजनीय माना जाता है, धार्मिक महत्व होने के साथ-साथ तुलसी औषधीय गुणों से भी भरपूर है। आयुर्वेद में तो तुलसी को उसके औषधीय गुणों के कारण विशेष महत्व दिया गया है। तुलसी ऐसी औषधि है जो ज्यादातर बीमारियों में काम आती है। इसका उपयोग सर्दी-जुकाम, खॉसी, दंत रोग और श्वास सम्बंधी रोग के लिए बहुत ही फायदेमंद माना जाता है। इसका वानस्पतिक नाम- ओसिमम (Ocimum Sanctum) है। इसका प्रयोज्य अंग पत्तियों व बीज है। यह हिमालय में 6 हजार फीट ऊँचाई तक होती है।

उपयोग—

1. उष्ण होने के कारण वातश्लैष्मिक विकारों जैसे खाँसी, ज्वर आदि में प्रयोग किया जाता है।
2. तुलसी के तेल में जन्तुघ्न, एंटी कैंसर, ज्वरध्न गुण पाये जाते हैं।
3. यह हृदय के लिए गुणकारी है तथा रक्तशोधक होने के कारण त्वचा से किया जाता है।
4. नेत्र विकारों में भी तुलसी का प्रयोग ब्राह्य व आभ्यान्तर दोनों प्रकार से किया जाता है।
5. इसके बीज मूत्रल व शुक्रल होने से इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ व शुक्रमेह में किया जाता है।
6. प्राचीन काल से ही इसका प्रयोग विभिन्न विषों के निराकरण के लिए किया जाता है।

पुदीना—

भारत के राष्ट्रीय स्वास्थ्य पोर्टल के अनुसार, पुदीने के कई आहार संबंधी उपयोग और स्वास्थ्य लाभ हैं। यह सामान्य सर्दी, खांसी, मुंह और गले की सूजन, साइनस संक्रमण और श्वसन संक्रमण में उपयोगी है। पुदीना के अंदर कई पोषक तत्व पाए जाते हैं जैसे कि ऊर्जा, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, नियासिन, विटामिन ए, विटामिन सी, सोडियम, पोटेशियम, आयरन, मैग्नीशियम और कैल्शियम आदि। इसका वानस्पतिक नाम- मेंथा स्पाइकेटा (Metha spicata) है। इसका प्रयोज्य अंग पंचाग, तेल है।

उपयोग-

1. पुदीना, रेचन, दीपन, होने के कारण अरूचि वमन आदि में प्रयोग किया जाता है।
2. यह वातानुलोमक वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशक जन्तुघ्न व व्रणरोपक है अतः दर्द वाले स्थानों में लेप चोट वाले स्थानों में लगाने व मुखदुर्गन्ध नाशन के लिए इसके स्वरस से कुल्ला करते है।
3. तीक्ष्ण, उष्ण होने से कफ वातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
4. इसकी पत्तियों का क्वाथ बुखार, पेट के दर्द, कष्टार्तव व रजोरोध में उपयोगी है।
5. मुँह के छाले, मसूड़ों की सूजन व दॉत दर्द में भी यह लाभकर है।

धृत कुमारी—

घृत कुमारी या अलोवेरा/एलोवेरा, जिसे क्वारगंदल या ग्वारपाठा के नाम से भी जाना जाता है, एक औषधीय पौधे के रूप में विख्यात है। घृत कुमारी के अर्क का प्रयोग बड़े स्तर पर सौंदर्य प्रसाधन और वैकल्पिक औषधि उद्योग जैसे चिरयौवनकारी (त्वचा को युवा रखने वाली क्रीम), आरोग्यी या सुखदायक के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम- एलोवीरा (Aloe vera) है। इसका प्रयोज्य अंग मूल, पत्र है। यह 5000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

उपयोग—

1. यह शोथहर और और वेदनास्थापन है। गलगण्ड में इसके मूल व पत्र का लेप करते हैं। इससे सिद्ध तेल का अभ्यंग दौर्बल्य और वातव्याधि में करते हैं।

2. यह मस्तिष्कशामक है अतः मूर्च्छा, भ्रम व अनिद्रा में प्रयुक्त होता है।
3. यह रक्त भार शामक होने से उच्चरक्तचाप में उपयोगी है।
4. बाजीकरण तथा गर्भाशयशोथहर होने से शुक्रदौर्बल्य, प्रदर तथा योनिशूल में दिया जाता है।
5. यह मूत्रल, कुष्ठध्न व उत्तम रसायन है।

शतावरी—

यह एक औषधीय गुणों वाला पौधा है। इसका उपयोग सिद्धा तथा होम्योपैथिक दवाइयों में होता है। जैसे- स्त्री रोग, प्रसव के उपरान्त दूध का न आना, बांझपन, गर्भपात आदि में किया जाता है। यह जोडों के दर्द एवं मिर्गी में भी लाभप्रद होता है। इसका उपयोग प्रतिरोधात्मक शक्ति बढाने के लिए भी किया जाता है। शतावर जंगल में स्वतः उत्पन्न होती है। चूंकि इसका औषधीय महत्व भी है अतः अब इसका व्यावसायिक उत्पादन भी है। इसकी लतादार झाडी की पत्तियां पतली और सुई के समान होती है। इसका फल मटर के दाने की तरह गोल तथा पकने पर लाल होता है। इसका वानस्पतिक नाम- एसपेरेगस रेसीमोसस (Asparagus racemosus) है। इसका प्रयोज्य अंग- कन्द है। यह हिमालय में 4000 फीट तक की ऊँचाई पर पाया जाता है।

उपयोग—

1. यह वातपित्त शामक है। इससे सिद्ध तेलों का प्रयोग शिरोरोग, वातव्याधि व दौर्बल्य में करते है।
2. यह शुकल गर्भपोषक व स्तन्यजनन है इसलिए शुकक्षय, गर्भक्षय, गर्भस्राव, रक्तप्रदर व स्तन्यक्षय में प्रयोग में लाया जाता है।
3. यह अम्लपित्त, शूल, ग्रहणी, अर्श व दौर्बल्य नाशक है।
4. छोटी माता होने पर इसके पत्तों का लेप दाह शमक का काम करता है।
5. सभी आयु की स्त्रियों के लिए बल्य व रसायन है।

भृंगराज—

यह एक औषधीय गुणों वाला पौधा है। आयुर्वेदिक विशेषज्ञों का मत है कि भृंगराज बालों और लीवर से जुड़ी समस्याओं के लिए लाभदायक है, क्योंकि इसमें केश्य गुण पाया जाता है। भृंगराज को केशराज भी कहते हैं, यह आयुर्वेदिक और औषधीय गुणों से भरपूर होता है। भृंगराज का इस्तेमाल करने से बालों की कई समस्याएं दूर होती हैं। इसका वानस्पतिक नाम - एक्लिप्टा एल्बा (Eclipta alba) है

उपयोग—

1. भृंगराज बालों के लिए और यकृत शोथ में मुख्यरूप से प्रयोग की जाने वाली औषधि है।
2. यह किडनी और लीवर की कारगर औषधि है। बालों का असमय सफेद होना, झड़ने में भृंगराज तैल का नियमित उपयोग लाभदायक होता है। अनिद्रा में भी तेल लाभप्रद है।
3. यह मूत्रल है अतः मूत्र दाह में लाभ करता है।
4. यह स्वेदजनन हैं तथा त्वक् विकारों में लाभकर है।
5. गर्भाशयगत रक्तस्राव तथा प्रसूतिजन्य गर्भशय शूल की यह उत्तम औषधि है।

छोटी इलायची—

भारत के घर-घर में गरम मसालों से लेकर खीर, हलवा आदि खाद्य पदार्थों में छोटी इलायची का प्रयोग किया जाता है। पान या फिर केवल लौंग के साथ भी छोटी इलायची का इस्तेमाल होता है। भोजन के बाद मुंह को सुगंधित करने के लिए भी इलायची के सेवन किया

जाता है। इलायची केवल एक सुगंधित मसाला ही नहीं है, बल्कि यह एक अच्छी औषधि भी है। यदि आप छोटी इलायची के फायदे को जान जाएं तो अनेक रोगों का स्वयं ही इलाज कर सकते हैं। छोटी इलायची एक सुगंधित मसाला है। इलायची का पौधा लगभग 10-12 फुट लंबा होता है जो समुद्र के किनारे वर्षभर पैदा होता है। यह पत्तेदार होता है। इसके पत्ते ऊपर से एकदम हरे, भाले के आकार के और दो फुट तक लंबे होते हैं। इसमें गुच्छों की तरह फल लगते हैं। सूखे हुए फल ही छोटी इलायची के नाम से जाने जाते हैं। इसका वानस्पतिक नाम- इलेटेरिया कार्डामोमम (Elettaria Cardamomum) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. इलायची, मुखरोग, वमन, अरूचि, अग्निमांद्य में प्रयुक्त होती है।
2. यह श्वास व कास में भी लाभदायक है।
3. यह वातानुलोमक होने से उदर शूल तथा पेट के फूलने में भी प्रयोग की जाती है।
4. इसके बीजो का तेल पाचक तथा अम्लपित्त में लाभकर है।
5. यह नेत्रदाह, गलशोथ, श्वास तथा दाँत व मसूड़ों के रोगों में लाभकर है।

अदरख (सौंठ) —

अदरक यह महत्वपूर्ण मसाले की फसल है। यह एक पौधे की जड़ है। यह भारत में एक मसाले के रूप में प्रमुख है। अदरक का इस्तेमाल अधिकतर भोजन के बनाने के दौरान किया जाता है। अक्सर सर्दियों में लोगों को खांसी-जुकाम की परेशानी हो जाती है जिसमें अदरक प्रयोग बेहद ही कारगर माना जाता है। यह अरूची और हृदय रोगों में भी फायदेमंद है। इसके अलावा भी अदरक कई और बीमारियों के लिए भी फ़ायदेमंद मानी गई है। आयुर्वेद में अदरक के कई औषधीय गुण बताए गए हैं। भूख की कमी, बदहजमी, वात-पित्त दोष आदि में अदरक के औषधीय गुण बेहद लाभदायक होते हैं। घाव, पथरी, बुखार, एनीमिया और मूत्र रोग में भी अदरक फायदेमंद है। पाचन-तंत्र, सूजन, शरीर के दर्द, सर्दी- खांसी जैसी बीमारियों में अदरक के इस्तेमाल से फायदा मिलता है। इतना ही नहीं हृदय रोग, रक्त विकार, बवासीर आदि रोगों में भी अदरक के औषधीय गुण से लाभ होता है। इसका वानस्पतिक नाम- जिंजीबर ओफिसिनेल (Zingiber officinale) है। इसका प्रयोज्य अंग कंद है।

उपयोग—

1. अदरख की चाय (क्वाथ) सदी जुकाम व कफ की उत्तम औषधि है।
2. खून को पतला करने के गुण के कारण तथा कोलेस्ट्रॉल को कम करने के कारण यह हृदय रोगों में प्रयोग किया जाता है।
3. स्मुद्री यात्रा, हवाई यात्रा तथा गर्भावस्था जन्य वमन में यह कारगर औषधि है।
4. अरुचि, उदरशूल, अतिसार तथा कास में भी यह लाभकर है। यह दीपन पाचन कर्म करता है।
5. यह आम पाचक है, अतः शरीर में उत्पन्न आम को नष्ट करता है।

गुड़मार—

यह एक औषधीय पौधा है। यह बेल (लता) के रूप में होता है। इसकी पत्ती को खा लेने पर किसी भी मीठी चीज का स्वाद लगभग एक घंटे तक के लिए समाप्त हो जाता है। इसे खाने के बाद गुड़ या चीनी की मिठास खत्म हो जाती है और वह खाने पर रेत के समान लगती है। इस विशेषता के कारण स्थानीय लोग इसे गुड़मार के नाम से पुकारते हैं। मधुमेह में इसका उपयोग प्रायः किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम जिम्नेमा सिल्वेस्ट्रा (Gymnema sylvestre) है।

उपयोग—

1. यह रक्त में शर्करा की उपस्थिति को नियंत्रित करता है अतः मधुमेह में प्रयोग किया जाता है।
2. इसकी जड़ का चूर्ण सर्पदंश के ब्रण पर लगाने के काम आता है।
3. यह यकृत व प्लीहा शोथ, अरुचि, विबन्ध व पीलिया की कारगर औषधि है।
4. प्रतिश्याय कास व श्वास में इसके बीजों का चूर्ण देते है।
5. मूल का क्वाथ सर्पविष में पिलाते हैं।

गिलोय (Tinospora cordifolia)

गिलोय का रस शरीर से विषाक्त पदार्थों को बाहर निकालने, इम्यूनिटी बढ़ाने और पाचन क्रिया को सही रखने में सहायक है। यह शरीर को ऊर्जा प्रदान करता है और बुखार के इलाज में भी सहायक है। इसका उपयोग बुखार, इन्फेक्शन, और शरीर की प्रतिरक्षा बढ़ाने के लिए किया जाता है।

संतुल (Moringa oleifera)

संतुल में प्रोटीन, कैल्शियम, आयरन, विटामिन A, C और E पाए जाते हैं। यह एंटीऑक्सीडेंट, एंटीबैक्टीरियल और एंटीइंफ्लेमेटरी गुणों से भरपूर है। इसका उपयोग पोषण बढ़ाने, पाचन सुधारने, रक्तदाब को नियंत्रित करने और हड्डियों को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है।

पुदीना (Mentha piperita)

पुदीना में एंटीऑक्सीडेंट और एंटीबैक्टीरियल गुण होते हैं। यह पेट के रोगों, सिरदर्द, मांसपेशियों के दर्द और मानसिक थकावट में राहत प्रदान करता है। इसका उपयोग पाचन संबंधी समस्याएँ, सिरदर्द, नर्वस सिस्टम के लिए और सांस की ताजगी बनाए रखने के लिए किया जाता है।

शंखपुष्पी (Convolvulus pluricaulis)

शंखपुष्पी मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने में मदद करता है। यह मस्तिष्क के कार्यों को बेहतर बनाता है, याददाश्त को बढ़ाता है और तनाव को कम करता है। इसका उपयोग मानसिक तनाव, अवसाद, मानसिक थकान, और याददाश्त को सुधारने के लिए किया जाता है।

कमल—

यह भारत का राष्ट्रीय पुष्प है। कमल का फूल सफेद या गुलाबी रंग का होता है और पत्ते लगभग गोल, ढाल जैसे, होते हैं। पत्तों की लंबी डंडियों और नसों से एक तरह का रेशा निकला होता है। कमल के पौधे के प्रत्येक भाग के अलग-अलग नाम हैं और उसका प्रत्येक भाग चिकित्सा में उपयोगी है-अनेक आयुर्वेदिक, एलोपैथिक और यूनानी औषधियाँ कमल के भिन्न-भिन्न भागों से बनाई जाती हैं। कमल का औषधि के रूप में उपयोग करते हैं। कमल के फूलों का विशेष उपयोग पूजा और शृंगार में भी होता है। इसके पत्तों को पत्तल के स्थान पर काम में लाया जाता है। बीजों का उपयोग अनेक औषधियों में होता है और उन्हें भूनकर मखाने बनाए जाते हैं। तनों (मृणाल, बिस, मिस, मसींडा) से अत्यंत स्वादिष्ट शाक बनता है। इसका वानस्पतिक नाम - निलूम्बियम स्पेसियोसम (Nelumbium speciosum) है। इसका प्रयोज्य अंग फल, मूल, पुष्प व बीज है।

उपयोग—

1. यह दाह, मूत्र संबंधी व्याधियों मानसिक रोगों की उत्तम औषधि है।

2. इसकी पत्तियों को अतिसार लू लगने तथा रक्त वमन में प्रयोग करते हैं।
3. यह त्वक रोगों में भी कारगर है।
4. इसकी पत्तियाँ और फूल अर्श तथा रक्तसाव सम्बन्धी रोगों में लामकर है।
5. यह हृदय बल्य है तथा हृदय संरक्षण करता है।

खसखस (पोस्त) —

खसखस मसालों के रूप में उपयोग होने वाला एक महत्वपूर्ण मसाला है। यह भोजन में स्वाद एवं खुशबू का अनोखा संगम है। इसका उपयोग मीठे व्यंजनों को बनाने में किया जाता है। खसखस मसाला सुगंधित और शीतलता देने वाला होता है. इसका उपयोग पेय पदार्थों जैसे कि ठंडाई, शर्बत, जूस में और दूध से बने पदार्थों में किया जाता है. मिठाइयों जैसे कि हलवा, खीर, केक और ब्रैड आदि बनाने में भी इसका इस्तेमाल होता है. खसखस सलाद और सब्जियों में भी डाल सकते हैं। खस-खस को पानी में भिगोकर कुछ देर तक रखने के उपरांत इस्तेमाल में लाने पर इसका स्वाद और भी ज्यादा निखर कर आता है. मफ़िन, केक, बन्स, डेज़र्ट और पेस्ट्री आदि पर इसे छिड़ककर इस्तेमाल किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम पापावर सोम्निफेरम (Papavar Somniferum) है। इसका प्रयोज्य अंग - बीज, पुष्प है। यह भारत वर्ष में 1500 मीटर से 2100 मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है।

उपयोग—

1. संधिशोथ या शरीर के अन्य भागों के शोथ या पीड़ा में इसका लेप करते हैं।
2 यह वेदना शामक होने के साथ-साथ निद्राजनन भी है।
3. आक्षेपहर होने के कारण अपस्मार, कम्पवात, धनुस्तंभ में प्रयोग किया जाता है।
4. शूलप्रशमन व स्तम्भन होने से उदरशूल व अतिसार में लाभकर है।

पिप्पली—

इस फल को सुखाकर मसाले, छौंक एवं औदषधीय गुणों के लिये आयुर्वेद में प्रयोग किया जाता है। इसका स्वाद अपने परिवार के ही एक सदस्य काली मिर्च जैसा ही है, किन्तु उससे अधिक तीखा होता है। इसका प्रयोग एक मसाले के बजाय एक औषधि के रूप में किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम पाइपर लेंगम (Piper longum) है। इसका प्रयोज्य अंग फल, मूल है।

उपयोग—

1. शोधयुक्त वेदना को शान्त करने के लिए इसका लेप किया जाता है।
2 यह अरूचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, गुल्म उदरशूल में प्रयुक्त होता है।
3. शुकदौर्बल्य, रजोरोध और कष्ट प्रसव में लाभकारी है।
4. जीर्णज्वर में गुड के साथ इसका चूर्ण लाभकर है।

गुलाब—

गुलाब एक बहुवर्षीय, झाड़ीदार, कंटीला, पुष्पीय पौधा है जिसमें बहुत सुंदर सुगंधित फूल लगते हैं। गुलाब के फूलों में कई तरह के औषधीय गुण होते हैं। गुलाब के फूलों का सेवन करने से त्वचा, हृदय, और पाचन तंत्र को फ़ायदा होता है. गुलाब के फूलों से बने जल का इस्तेमाल त्वचा की देखभाल के लिए किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम रोजिया ऐण्टिफोलिया (Rosea centifolia) है। इसका प्रयोज्य अंग पुष्प दल, तेल है।

उपयोग—

1. यह उच्चरक्तचाप, अतिसार, कष्टार्तव, ज्वर, अनिद्रा में लाभकारी है।
2. त्वक विकारों में इसका चूर्ण या लेप लगाते है।
3. यह पाचनविकार तथा विबन्ध में उपयोगी है।
4. रक्तपित्त, हृदयरोग तथा दौर्बल्य में प्रयोग किया जाता है।

सफेद मूसली—

सफ़ेद मूसली एक दुर्लभ भारतीय जड़ी-बूटी है। इसमें कई औषधीय गुण होते हैं। आयुर्वेद में इसका इस्तेमाल कई तरह की बीमारियों के इलाज में किया जाता है। सफ़ेद मूसली एक आयुर्वेदिक जड़ी-बूटी है जो प्रायः भारत के उष्ण कटिबंधीय जंगलो में पायी जाती है। आमतौर पर यह गीले क्षेत्रों या जंगलो में अपने आप उगती है, लेकिन कुछ जगह इसकी खेती भी की जाती है।

मूसली मुख्य रूप से दो तरह की होती है, सफ़ेद मूसली और काली मूसली। जिसमे सफ़ेद मुसली ज्यादा बढ़िया मानी जाती है। इसका पौधा करीब 1.5 फ़ीट लम्बा होता है। इसका वानस्पतिक नाम- क्लोरोफाइटम एरूण्डिनेसियम (Chlorophytum arundenaceum) है। इसका प्रयोज्य अंग कन्द है।

उपयोग—

1. यह दृश्य एवं है अतः दोर्बल्य कृशता में प्रयोग किया जाता है।
2. इसके सेवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है।

शंखपुष्पी—

शंखपुष्पी का पौधा यादाश्त बढ़ाने में बहुत फायदेमंद होते हैं। वैसे तो शंखपुष्पी के फूल कई तरह के रंगों के होते हैं लेकिन आयुर्वेद में सफेद रंग के शंखपुष्पी का सबसे ज्यादा प्रयोग किया जाता है। चरकसंहिता के ब्रह्मरसायन में तथा मिर्गी के चिकित्सा में शंखपुष्पी का प्रयोग का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त खांसी की चिकित्सा के लिए अगस्तयहरीतकी योग में और द्विपंचमूलादिघृत में शंखपुष्पी का वर्णन मिलता है। आचार्य सुश्रुत ने भी तिक्त गण में शंखपुष्पी के बारे में चर्चा की है । शंखपुष्पी कड़वा और ठंडे तासीर का होता है। आयुर्वेद के अनुसार शंखपुष्पी एक ऐसी जड़ी बूटी है जो दिमाग को स्वस्थ रखने के साथ-साथ अनेक तरह के बीमारियों के लिए औषधि के रूप में काम करती है। कहने का मतलब ये है कि शंखपुष्पी की खास बात ये है कि यह मानसिक रोगों के लिए बहुत ही लाभादायक होती है। यह कुष्ठ, कृमि और विष का असर कम करने में भी मदद करती है। इसका वानस्पतिक नाम कोनवॉल्वुलस प्लूरिकौलिस (Convolvulus Pluricaulis) है।

उपयोग—

1. यह मेध्य तथा नाड़ियों के लिए बलप्रद है। यह निद्राजनन भी है।
2. यह शीतवीर्य होने से रक्तस्तंभक है तथा उच्च रक्तचाप को कम करती है।
3. यह मूत्र विरेचनीय वृष्य तथा प्रजास्थापन है।
4. यह रक्तवमन की अद्वितीय औषधि है।
5. यह शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भाशय दौर्बल्य की प्रशस्त औषध है।

गुडुची—

गुडुची एक जड़ी-बूटी है जिसके कई औषधीय गुण हैं। आयुर्वेद में इसे सबसे शक्तिशाली जड़ी-बूटियों में से एक माना जाता है। गुडुची एक प्राकृतिक एंटी-इंफ्लेमेटरी, एंटी-बायोटिक, एंटी-एजिंग, एंटी-ऑक्सीडेंट, एंटी-वायरल, एंटी-डायबिटिक और एंटी-कैंसर औषधि है। इस औषधि की सबसे खास बात यह है कि इसके साइड इफेक्ट्स नहीं है, इसलिए हर उम्र के लोग गुडुची का सेवन बिना किसी संकोच के कर सकते हैं। इसका वानस्पतिक नाम टिनिस्पोरा कार्डिफोलिया (Tinospora Cordifolia) है।

उपयोग—

1. यह त्रिदोष शामक है। घृत के साथ वात, शर्करा के साथ पित तथा मधु के साथ कफ विकारों में दिया जाता है।
2. कुष्ठ वातरक्त में इससे सिद्ध घृत का प्रयोग किया जाता है।
3. इसका सत्व जीर्ण ज्वर तथा दाह में प्रयोग करते हैं। यह बल्य भी है।
4. दौर्बल्य, क्षय में तथा रसायन कर्म में प्रयोग होता है।
5. इसे मूत्राश्मरी में भी प्रयोग करते हैं।

हरीतकी—

हरीतकी औषधीय गुणों का भंडार है। इसमे विटामिन सी, विटामिन के, अमीनो एसिड, मैग्नीशियम, फ्लेवेनॉएड और एंटी ऑक्सीडेंट्स जैसे भरपूर पोषक तत्व पाए जाते हैं। आयुर्वेद में इसे कई सारी बीमारियों के इलाज के लिए प्रयोग किया जाता है। ब्लड शुगर को कंट्रोल करने से लेकर डाइजेशन के लिए हरीतकी बेहद फायदेमंद है । हरीतकी को वैद्यों ने चिकित्सा साहित्य में अत्यधिक सम्मान देते हुए उसे अमृतोपम औषधि कहा है। राज बल्लभ निघण्टु ने कहा है—

यस्य माता गृहे नास्ति, तस्य माता हरीतकी।
कदाचिद् कुप्यते माता, नोदरस्था हरीतकी ॥

(अर्थात् हरीतकी मनुष्यों की माता के समान हित करने वाली है। माता तो कभी-कभी कुपित भी हो जाती है, परन्तु उदर स्थिति अर्थात् खायी हुई हरड़ कभी भी अपकारी नहीं होती।)

हरीतकी के सेवन से समस्त रोगों का नाश होता है। इसके लगातार सेवन से बाल काले हो जाते हैं। सूंघने की क्षमता में वृद्धि होती है और आंखें जल्दी खराब नहीं होती है । इसका वानस्पतिक नाम टर्मिनेलिया चेबुला (Terminalia Chebula) है। इसका प्रयोज्य अंग फल त्वक् है।

उपयोग—

1. इसका लेप शोथहर वेदनास्थापन, व्रण शोधन व्रण रोपण है।
2. यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, मृदुरेचन है।
3. यह वृश्य, गर्भाशय शोथहर तथा प्रजास्थापन है।
4. इसके क्वाथ से मुख तथा गले के रोगों में कुल्ला करते है।
5. कोष्ठ शोधन के लिए हरीतकी सर्वश्रेष्ठ द्रव्य है।
6. शुक्रमेह, श्वेतप्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
7. इसका चूर्ण सोंठ के साथ मिलाकर गर्म पानी के साथ सेवन करने से हक्का में लाभकर है।

गेंदा—

गेंदे के फूल और पत्तियों में कई औषधीय गुण होते हैं। गेंदे के फूल में विटामिन ए, विटामिन बी, मिनरल्स, और एंटीऑक्सीडेंट पाए जाते हैं, गेंदे के फूल और पत्तियों का इस्तेमाल कई तरह की बीमारियों में किया जाता है। गेंदा ये पौधा न केवल आपके शरीर को स्वस्थ रखते

हैं वरन कीटों को भी दूर रखते है। यह त्वचा को शांत और त्वचा संबंधी बीमारियों के उपचार में सहायक है।

उपयोग—

1. इसका इस्तेमाल आंखों के संक्रमण को कम करने में किया जाता है।
2. यह एंटीऑक्सीडेंट गुण स्ट्रेस कम करने में मदद करते हैं.
3. गेंदे के फूलों का इस्तेमाल शरीर को डिटॉक्सिफ़ाई करने में किया जाता है.
4. इसका इस्तेमाल खून शुद्ध करने में किया जाता है.
5. यह मजबूत जीवाणुरोधी तथा संक्रमणरोधी गुणों से युक्त है।

ध्यान दें: यद्यपि अधिकांश औषधीय जड़ी-बूटियाँ न्यूनतम दुष्प्रभावों के साथ आपके स्वास्थ्य को बेहतर बनाने में मदद करती हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश का उन लोगों के लिए सुरक्षा के लिए परीक्षण नहीं किया गया है जो कमजोर हैं या किसी भी आहार/स्वास्थ्य प्रतिबंध के साथ हैं। इसके अलावा, सेवन से पहले उचित खुराक पर विचार किया जाना चाहिए।

3.4.2 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग—

नीम—

नीम औषधीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह भारत में आमतौर से हर जगह पाया जाता है। इस वृक्ष के लगभग सभी भाग जैसे पत्तियाँ, तना, पुष्प, फल आदि काम में आते हैं। इसकी पत्तियाँ पाचक, वातहर, कफनाशक एवं कीटाणुनाशक होती हैं। पत्तियों का रस अनेक त्वचा रोगों तथा पीलिया के उपचार में प्रयुक्त होता है। इसका उपयोग कृमिनाशक के रूप में भी होता है। भारत में नीम के तने के टुकड़े को दातुन के रूप में

बेल—

यह रूटेसी कुल का सदस्य है तथा विश्वभर में पाया जाता है। डायरिया, पेट की गड़बड़ियों तथा कब्ज के उपचार में यह उपयोगी है। बेल के फलों से एक ताजगीदायक पेय भी बनाया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम एजिल मार्मेलोस (Aegle marmelos) है। इसका प्रयोज्य अंग मूल, त्वक, पत्र, फल है।

उपयोग—

1. नेत्राभिषांद में पत्र का स्वरस नेत्र में डालते हैं तथा पत्तियों का लेप लगाते हैं।
2. इसका मूल वातव्याधि, आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा में प्रयुक्त होता है।
3. मूलत्वक् तथा फल चूर्ण अतिसार, प्रवाहिका तथा ग्रहणी में प्रयुक्त होता है।
4. यह गर्भाशय शोथ, श्वेतप्रदर तथा सूतिका रोग को दूर करता है।
5. इसके पत्र का क्वाथ अम्लपित्त तथा मूल कर्ण रोगों में लाभकर है।

आंवला—

आंवले का वानस्पतिक नाम एम्बलिका आफिसिनेलिस है। इसके फलों में विटामिन 'सी' भरपूर मात्रा में होता है। आंवले के फल शीतलता प्रदान करने वाले, विरेचक तथा मूत्रवाही होते हैं। यह हरड़ एवं बहेड़ा के साथ त्रिफला चूर्ण के रूप में पेट के विकार तथा आँखों की रोशनी को ठीक करता है। इसका वानस्पतिक नाम- एम्लिका ऑफिसिनेलिस (Emblica officinalis) है। इसका प्रयोज्य अंग फल है।

उपयोग—

1. यह विटामिन सी का सर्वोत्तम वानस्पतिक स्रोत है अतः यह स्कर्वी रोग में शर्करा व दूध के साथ प्रयोग कराये जाने पर लाभदायक परिणाम देता है।
2. यह हृदय के लिए बल्य है शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है।
3. यह एक उत्तम रसायन है तथा मधुमेह में भी लाभकर परिणाम दिखाता है।
4. बलों के लिए लाभकारी है तथा बालों को सफेद होने तथा झड़ने से रोकता है।
5. शुक्रमेह प्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में उपयोगी है।
6. इसके फल का चूर्ण दृष्टिमाद्य अरूचि, अम्लपित, परिणामशूल, उदररोग, प्रमेह तथा अर्श में लाभकर हैं।

जामुन—

जंगलों, गाँव के किनारे, खतों के किनारे और उद्यानों में जामुन के पेड़ देखे जा सकते हैं। जामुन का वानस्पतिक नाम सायजायजियम क्युमिनी है। जामुन में लौह और फास्फोरस जैसे तत्व प्रचुरता से पाए जाते है, जामुन में कोलीन तथा फोलिक एसिड भी भरपूर होते है। पातालकोट के आदिवासी मानते है कि जामुन के बीजों के चूर्ण की दो-दो ग्राम मात्रा बच्चों को देने से बच्चे बिस्तर पर पेशाब करना बंद कर देते हैं। जामुन के ताजे पत्तों की लगभग 50 ग्राम मात्रा लेकर पानी (300 मिली) के साथ मिक्सर में रस पीस लें और इस पानी को छानकर कुल्ला करें, इससे मुंह के छाले पूरी तरह से खत्म हो जाते है।

पपीता—

वानस्पतिक नाम – केरिका पपाया (Carica Papaya)
प्रयोज्य अंग फल, पत्र, दूध, बीज
उत्पतिस्थान - सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग—

1. इसमें पाये जाने वाले कायमौपापेन और पापेन (Chymopapain & papain)
1. पाचक है इसलिए यह पाचन सम्बन्धी रोगों व आन्त्र कृमि में लाभकर है।
2. इसके दूध का प्रयोग सोरायसिस तथा रिंगवर्म में किया जाता है।
3. इसके मूल के क्वाथ का प्रयोग मूत्राश्मरी तथा मूत्रकृच्छ में करते हैं।
4. इसके दूध व बीजों का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्तव में किया जाता है।

दालचीनी—

वानस्पतिक नाम- सिन्नामोसम जिलेनिकम (Cinnamomum Zeylanicum)
प्रयोज्य अंग छाल
उत्पत्ति स्थान दक्षिण पश्चिम भारत में समुद्र किनारे एवं श्रीलंका

उपयोग—

1. यह मुखशोधन, मुखदुर्गन्ध नाशन है।
2. यह भारतीय भोजन में गर्म मसालों के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह उत्तम दीपन द्रव्य है।
3. यह हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है तथा कोलेस्ट्राल व ट्राइग्लिसराईड की कम करने के काम आता है।
4. यह वातानुलोमक एवं ग्राही है अतः उदर में वायु संचित होने (आफरा) तथा अतिसार में भी उपयोगी है।
5. यह अरुचि, श्वास कास में उपयोगी है।

6. मूत्रकृच्छ रजोरोध में इसका चूर्ण देने पर लाभ होता है।

धतूरा—

वानस्पतिक नाम धतूरा मेटल (Datura Metal)

प्रयोज्य अंग बीज, पुष्प व पत्र

उत्पत्ति स्थान उत्तर पश्चिम हिमालय

उपयोग—

1. वेदना स्थापन होने से इसके पत्रों का लेप दर्द वाले स्थानों पर किया जाता है।
2. अम्लपित, परिणामशूल और पित्ताश्मरी में इसका प्रयोग लाभकर है।
3. यह श्वास रोग की उत्तम औषधि है।
4. इसके पत्र, पुष्प मजरी और बीज वेदना स्थापक, मादक गुण वाले होते है।

अनार—

वानस्पतिक नाम- प्यूनिका ग्रेनेटम (Punica granatum)

प्रयोज्य अंग फल, फलत्वक

उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग—

1. यह कई रोगों की कारगर औषधि है। इसके रस से रक्त के कोलेस्ट्रोल की मात्रा नियंत्रित होती है।
2. इसकी छाल के काढ़े से मुख व कण्ठ रोगों में गरारे करते है।
3. अरूचि, अगिमांद्य, अतिसार की प्रशस्त औषधि है।
4. इसके फलों से ज्वर के उपद्रव शान्त होकर रोगी के बल में वृद्धि होती है।
5. इसके फलों में एन्टीआक्सीडेन्ट पाये जाते है जो शरीर में कैंसर से लडने की शक्ति पैदा करते है।

रीठा—

वानस्पतिक नाम- सेपिन्डस म्यूकोरोसी (Sapindus mukorossi)

प्रयोज्य अंग फल

उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग—

1. यह विशेष रूप से साबुन व शैंपू बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।
2. यह शोथहर, वेदना स्थापन, विकान तथा कुष्ठप्न है।
3. कफनिसारक गर्भाशय संकोचक तथा कुष्ठघ्न है।
4. इसके फल के चूर्ण का नस्य अर्घावभेदक, मूच्छ्र्ा, अपतंत्रक तथा श्वास में देते है।

अखरोट—

वानस्पतिक नाम जुग्लान रेजिया (Juglans Regia)

प्रयोज्य अंग फल तथा पत्र

उत्पत्ति स्थान हिमालय व खासी की पहाड़ियां

उपयोग—

1. इसके बीज पौष्टिक, बल्य एवं पोषक हैं उसमें जीवनीय ए.बी.सी (vit A.B.C)
2. इसके फल और पत्र कृमिघ्न, शोथध्य हैं।

3. इसका तेल मासिक धर्म संबंधी विकारों तथा त्वक विकारों में कारगर है।
4. इसके बीज अश्मरीध्न व मूत्रल है।
5. इसके लेप त्वक विकारों में लगाया जाता है।
6. इसमें कैंसर नाशक गुण पाये जाते है।
7. अखरोट के बीजों का तैल स्फीत कृमि (Tape worm) नाशक है।

बहेड़ा—

वानस्पतिक नाम टर्मिनेलिया बेलेरिका (Terminalia belerica)
प्रयोज्य अंग फल
उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग—

1. शोथ वेदना युक्त स्थानों में इसके फल का लेप करते हैं।
2. इसका तेल चर्मरोगों, श्वित्र, पालित्य में प्रयोग किया जाता है।
3. उसे भूनकर प्रयोग करने से कफ, कण्ठ शोथ तथा श्वास में फायदा मिलता है।
4. वातव्याधि, अनिद्रा में इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं।
5. अभिष्यंद में इसके फल का लेप नेत्र पर लगाते हैं।
6. इससे सिद्ध तेल, खालित्य, पालित्य में प्रयोग में लाते हैं।
7. इसके अर्धपक्व फल विबन्ध में तथा पक्व शुष्क फल अतिसार प्रवाहिका में देते हैं।
8. यह रक्तष्ठीवन में प्रयोग किया जाता है।

जामुन—

वानस्पतिक नाम सिजीजियम क्यूमिनाइ (Syzygium cumini)
प्रयोज्य अंग छाल, फल, बीज, पत्र
उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग—

1. इसकी छाल व फल उत्तम मधुमेह नाशक है।
2. रक्तस्राव होने पर तथा व्रणों पर इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं।
3. इसके पत्र का चूर्ण मसूड़ों को मजबूत बनाने के लिये देते हैं। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होते हैं।
4. इसके बीज का चूर्ण रक्तप्रदर रक्तातिसार में देते हैं।
5. इसकी छाल व बीजों का क्वाथ अरूचि नाशक, मूत्रल, पाचक तथा कृमिघ्न है।

बरगद—

बरगद को 'अक्षय वट' भी कहा जाता है, क्योंकि यह पेड़ कभी नष्ट नहीं होता है। बरगद का वृक्ष घना एवं फैला हुआ होता है। बरगद का वानस्पतिक नाम फाइकस बेंघालेंसिस है। पेशाब में जलन होने पर दस ग्राम ग्राम बरगद की हवाई जड़ों का बारीक चूर्ण, सफ़ेद जीरा और इलायची (दो-दो ग्राम) का बारीक चूर्ण एक साथ गाय के ताजे दूध के साथ लिया जाए तो अतिशीघ्र लाभ होता है। पातालकोट के आदिवासियों के अनुसार बरगद की जटाओं के बारीक रेशों को पीसकर दाद-खाज खुजली पर लेप लगाया जाए तो फायदा जरूर होता है। बरगद का वृक्ष आयुर्वेद में रक्तदाब, श्वास समस्याओं और त्वचा रोगों के इलाज में प्रयोग होता है। इसके पत्तों और छाल में औषधीय गुण पाए जाते हैं।

इसका उपयोग श्वास संबंधी रोगों, बवासीर, और रक्तदाब में सहायता करता है।

अमलतास—

झूमर की तरह लटकते पीले फ़ूल वाले इस पेड़ को सुंदरता के लिये अक्सर बाग-बगीचों में लगाया जाता है हालांकि जंगलों में भी इसे अक्सर उगता हुआ देखा जा सकता है। अमलतास का वानस्पतिक नाम केस्सिया फ़िस्टुला है। अमलतास के पत्तों और फूलों में ग्लाइकोसाइड, तने की छाल टैनिन, जड़ की छाल में टैनिन के अलावा ऐन्थ्राक्विनीन, फ्लोवेफिन तथा फल के गूदे में शर्करा, पेक्टीन, ग्लूटीन जैसे रसायन पाए जाते है। पेट दर्द में इसके तने की छाल को कच्चा चबाया जाए तो दर्द में काफी राहत मिलती है। पातालकोट के आदिवासी बुखार और कमजोरी से राहत दिलाने के लिए कुटकी के दाने, हर्रा, आँवला और अमलतास के फलों की समान मात्रा लेकर कुचलते है और इसे पानी में उबालते है, इसमें लगभग पांच मिली शहद भी डाल दिया जाता है और ठंडा होने पर रोगी को दिया जाता है।

अर्जुन—

अर्जुन का पेड़ आमतौर पर जंगलों में पाया जाता है और यह धारियों-युक्त फलों की वजह से आसानी से पहचान आता है, इसके फल कच्चेपन में हरे और पकने पर भूरे लाल रंग के होते हैं। अर्जुन का वानस्पतिक नाम टर्मिनेलिया अर्जुना है। औषधीय महत्व से इसकी छाल और फल का ज्यादा उपयोग होता है। अर्जुन की छाल में अनेक प्रकार के रासायनिक तत्व पाये जाते हैं जिनमें से प्रमुख कैल्शियम कार्बोनेट, सोडियम व मैग्नीशियम प्रमुख है। आदिवासियों के अनुसार अर्जुन की छाल का चूर्ण तीन से छह ग्राम गुड़, शहद या दूध के साथ दिन में दो या तीन बार लेने से दिल के मरीजों को काफी फ़ायदा होता है। वैसे अर्जुन की छाल के चूर्ण को चाय के साथ उबालकर ले सकते हैं। चाय बनाते समय एक चम्मच इस चूर्ण को डाल दें इससे उच्च-रक्तचाप भी सामान्य हो जाता है।

अशोक—

ऐसा कहा जाता है कि जिस पेड़ के नीचे बैठने से शोक नहीं होता, उसे अशोक कहते हैं। अशोक का पेड़ सदैव हरा-भरा रहता है, जिसपर सुंदर, पीले, नारंगी रंग फ़ूल लगते हैं। अशोक का वानस्पतिक नाम सराका इंडिका है। अशोक की छाल को कूट-पीसकर कपड़े से छानकर रख लें, इसे तीन ग्राम की मात्रा में शहद के साथ दिन में तीन बार सेवन करने से सभी प्रकार के प्रदर में आराम मिलता है। पातालकोट के आदिवासियों के अनुसार यदि महिलाएं अशोक की छाल 10 ग्राम को 250 ग्राम दूध में पकाकर सेवन करें तो माहवारी सम्बंधी परेशानियां दूर हो जाती हैं।

कचनार—

हल्के गुलाबी लाल और सफ़ेद रंग लिये फ़ूलों वाले इस पेड़ को अक्सर घरों, उद्यानों और सड़कों के किनारे सुंदरता के लिये लगाया जाता है। कचनार का वानस्पतिक नाम बाउहीनिया वेरीगेटा है। मध्यप्रदेश के ग्रामीण अँचलों में दशहरे के दौरान इसकी पत्तियाँ आदान-प्रदान कर एक दूसरे को बधाईयाँ दी जाती है। इसे सोना-चाँदी की पत्तियाँ भी कहा जाता है। पातालकोट के आदिवासी हर्बल जानकार जोड़ों के दर्द और सूजन में आराम के लिये इसकी जड़ों को पानी में कुचलते है और फ़िर इसे उबालते है। इस पानी को दर्द और सूजन वाले भागों पर बाहर से लेपित करने से काफी आराम मिलता है। मधुमेह की शिकायत होने पर रोगी को प्रतिदिन सुबह खाली पेट इसकी कच्ची कलियों का सेवन करना चाहिए।

गुन्दा—

गुन्दा मध्यभारत के वनों में देखा जा सकता है, यह एक विशाल पेड़ होता है जिसके पत्ते चिकने होते है, आदिवासी अक्सर इसके पत्तों को पान की तरह चबाते है और इसकी लकड़ी इमारती उपयोग की होती है। इसे रेठु के नाम से भी जाना जाता है, हलाँकि इसका वानस्पतिक नाम कार्डिया डाईकोटोमा है। इसकी छाल की लगभग 200 ग्राम मात्रा लेकर इतने ही मात्रा पानी के साथ उबाला जाए और जब यह एक चौथाई शेष रहे तो इससे कुल्ला करने से मसूड़ों की सूजन, दांतो का दर्द और मुंह के छालों में आराम मिल जाता है। छाल का काढ़ा और कपूर का मिश्रण तैयार कर सूजन वाले हिस्सों में मालिश की जाए तो फ़ायदा होता है।

नीलगिरी—

यह पेड़ काफी लंबा और पतला होता है। इसकी पत्तियों से प्राप्त होने वाले तेल का उपयोग औषधि और अन्य रूप में किया जाता है। नीलगिरी की पत्तियां लंबी और नुकीली होती हैं जिनकी सतह पर गांठ पाई जाती है और इन्हीं गाठों में तेल संचित रहता है। नीलगिरी का वानस्पतिक नाम यूकेलिप्टस ग्लोब्यूलस होता है। शरीर की मालिश के लिए नीलगिरी का तेल उपयोग में लाया जाए तो गम्भीर सूजन तथा बदन में होने वाले दर्द नष्ट से छुटकारा मिलता है, वैसे आदिवासी मानते है कि नीलगिरी का तेल जितना पुराना होता जाता है इसका असर और भी बढता जाता है। इसका तेल जुकाम, पुरानी खांसी से पीड़ित रोगी को छिड़ककर सुंघाने से लाभ मिलता है।

पलाश—

मध्यप्रदेश के लगभग सभी इलाकों में पलाश या टेसू प्रचुरता से पाया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम ब्युटिया मोनोस्पर्मा है। पलाश की छाल, पुष्प, बीज और गोंद औषधीय महत्त्व के होते हैं। पलाश के गोंद में थायमिन और रिबोफ़्लेविन जैसे रसायन पाए जाते है। पतले दस्त होने के हालात में यदि पलाश का गोंद खिलाया जाए तो अतिशीघ्र आराम मिलता है। पलाश के बीजों को नींबूरस में पीसकर दाद, खाज और खुजली से ग्रसित अंगो पर लगाया जाए तो फ़ायदा होता है।

पीपल—

पीपल के औषधीय गुणों का बखान आयुर्वेद में भी देखा जा सकता है। पीपल का वानस्पतिक नाम फ़ाइकस रिलिजियोसा है। मुँह में छाले हो जाने की दशा में यदि पीपल की छाल और पत्तियों के चूर्ण से कुल्ला किया जाए तो आराम मिलता है। पीपल की एक विशेषता यह है कि यह चर्म-विकारों को जैसे-कुष्ठ, फोड़े-फुन्सी दाद-खाज और खुजली को नष्ट करता है। डाँगी आदिवासी पीपल की छाल घिसकर चर्म रोगों पर लगाने की राय देते हैं। कुष्ठ रोग में पीपल के पत्तों को कुचलकर रोगग्रस्त स्थान पर लगाया जाता है तथा पत्तों का रस तैयार कर पिलाया जाता है।

फालसा—

फ़ालसा एक मध्यम आकार का पेड़ है जिस पर छोटी बेर के आकार के फल लगते है। फ़ालसा मध्यभारत के वनों में प्रचुरता से पाया जाता है। फ़ालसा का वानस्पतिक नाम ग्रेविया एशियाटिका है। खून की कमी होने पर फालसा के पके फल खाना चाहिए इससे खून बढ़ता है। अगर शरीर में त्वचा में जलन हो तो फालसे के फल या शर्बत को सुबह-शाम लेने से अतिशीघ्र

आराम मिलता है। यदि चेहरे पर निकल आयी फुंसियों में से मवाद निकलता हो तो उस पर फालसा के पत्तों को पीसकर लगाने से मवाद सूख जाता है और फुंसिया ठीक हो जाती हैं।

नारियल—

यह एक पतला, झुका हुआ वृक्ष है जिसका तना घुमावदार छल्ले जैसा होता है। यह 25 मीटर 80 पुट तक की उफंचाई का हो सकता है। इसका आधार चौड़ा होता है तथा शीर्ष विशाल पंखाकार पत्तियों वाला होता है। इसकी पत्तियां 13 से 20 इंच तक होती हैं।

खैर—

इस पेड़ की छाल खुरदुरी तथा गहरे भूरे रंग की होती है। यह 15 मीटर की उफंचाई तक बढ़ता है। इसकी पत्तियां 8 से 10 सेमी. तक लंबी होती हैं। इसके गहरे भूरे रंग की छाल पर छोटे नुकीले कांटे होते हैं।

देवदार—

यह एक शंक्वाकार वृक्ष है जिसका तना बहुत सारी शखाओं वाला होता है। इसकी पत्तियां सीधी होती हैं। इस वृक्ष का प्रयोग सर्दी, बुखार आदि में औषधि के रूप में होता है। देवदार वृक्ष की पत्तियों का प्रयोग चाय बनाने के लिए किया जाता है जो कि विटामिन-सी से भरपूर होती है।

साल—

साल एक दुर्लभ प्रजाति का वृक्ष है जो कि भारत के पूर्वी भाग जैसे कि बंगाल, असम आदि में पाया जाता है। यह 30 मीटर की उफंचाई तक होता है। साल वृक्ष कठोर तथा इसकी पत्तियां मोटी होती हैं। इसकी पत्तियां कभी भी पूरी तरह नहीं झड़ती।

शीशम—

शीशम की उफंचाई लगभग 25 मीटर तथा व्यास 3 मीटर के आस-पास होता है। यह सीध विकसित होता है। सके फूलों का रंग सफेद और गुलाबी होता है। इसके फल भूरे रंग के सूखे व कठोर होते हैं। शीशम वृक्ष का उफपरी भाग अंडाकार होता है। इसका प्रयोग पफर्नीचर निर्माण, प्लाइवुड, संगीत उपकरण आदि बनाने में किया जाता है।

ये औषधीय वृक्ष न केवल स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायक हैं, बल्कि विभिन्न रोगों को दूर करने में भी प्रभावी होते हैं। इनका सही उपयोग करने से शरीर और मानसिक स्थिति में सुधार हो सकता है।

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. अर्जु न वृक्ष सामान्यतया ..... तट के किनारे पाया जाता है।
2. ..... में सल्पफर से भरपूर तीखी सुगंध् होती है।
3. बेल बहुत सारी बीमारियों जैसे ....., कब्ज और पेचिश के उपचार में सहायक है।
4. घृतकुमार की ..... स्वास्थ्य को तेजी से सुधरने में सहायक है।
5. तुलसी जड़ी-बूटियों की ..... के रूप में जानी जाती है।

2. सही या गलत पर चिन्ह लगाइए-

1. वृक्ष वन्य जीवन की वृद्धि में सहायक होते हैं।
2. वृक्ष पर्यावरण की सुंदरता तथा मंनोरजनात्मक मूल्य कम कर देते हैं।
3. वृक्ष आक्सीजन का स्तर बनाये रखने में सहायता करते हैं।
4. वृक्ष बाढ़ और मृदा कटाव को बढ़ाते हैं।

5. आम, नीम जैसे वृक्षि ध्वनि प्रदूषण को कम करते हैं।

3.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने औषधीय वृक्षों का भली-भाँति अध्ययन किया । आपने जाना कि औषधीय वृक्षों का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है। आज हम अपने दैनिक जीवन में औषधीय पौधों और जड़ी-बूटियों का भारी उपयोग देखते हैं, हम उनका उपयोग दवाओं के रूप में, चाय के रूप में, भोजन के रूप में, सौंदर्य प्रसाधनों के रूप में करते हैं और कुछ की तो पूजा भी की जाती है। जैसा कि हम आयुर्वेद के उपयोग में आवर्ती को देखते हैं, आज समृद्ध औषधीय गुणों वाले प्राकृतिक पौधों और औषधीय जड़ी-बूटियों को पसंद किया जा रहा है। औषधीय पौधे, व्यावसायिक उपयोग और कच्चे औषधीय उत्पादों के चिकित्सीय लाभ दोनों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान समीक्षा में औषधीय एवं सुगंधित पौधों के मूल्य संवर्धन में शामिल चरणों, मूल्य संवर्धन के लिए प्रयुक्त विभिन्न तकनीकों तथा उनके महत्व को देखा जा सकता है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	**अर्थ**
अनुसंधान	शोध
औषधीय पौधों	औषधीय चृक्ष
पारंपरिक	पुरातन परम्परा

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति

1. नदी
2. लहसुन
3. दस्त
4. पत्तियां
5. रानी

2. सही या गलत पर चिन्ह

1. सही 2. गलत 3. सही 4. गलत 5. सही

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चरक संहिता, पीवी शर्मा अनुवादक, चौखम्बा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1981।
2. सुश्रुत संहिता, केएल भिशाग्रत्ना अनुवादक, चौखम्बा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1991।
3. अष्टांग हृदय - श्री कांता मूर्ति अनुवादक, चौखंबा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1991 ।
4. शारंगधारा संहिता, श्री कांता मूर्ति अनुवादक, चौखंबा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1984।
5. माधव निदानम, श्री कांता मूर्ति अनुवादक, चौखम्बा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1993।
6. https://wikipedia.org

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. पौधें को उगाने के 10 कारणों की सूची बनाइए।
2. आपके आस-पड़ोस में उगने वाले किन्हीं 5 पेड़ों की सूची बनाकर विवेचना कीजिए।
3. किन्हीं 10 औषधीय पौधें की सूची बनाइए जिन्हें आप घर में उगा सकते हैं।
4. निम्नलिखित पौधें के स्वास्थ्य संबंधी लाभ बताइए-

1. अश्वगंध
2. पुदीना
3. तुलसी
4. अदरक
5. लहसुन

इकाई-4 षड्ऋतुचर्या

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 विषय परिचय
4.4 ऋतुचर्या का आधार
4.4.1 बलवर्धक आदान काल (उत्तरायण)
4.4.2 विसर्ग काल (दक्षिणायन)
4.5 षड ऋतुओं में आहार-विहार
4.6 ऋतु-संधि
4.7 बोधात्मक-प्रश्न
4.8 सारांश
4.9 बोधात्मक प्रश्नों के उत्तर
4.10 संदर्भित पाठ्यसामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों

यह इकाई बी.ए.एस.एल (N) 350 पत्र की द्वितीय खण्ड "आयुर्वेद के मूल सिद्धांत" की चतुर्थ इकाई है। जिसका शीर्षक **"षड ऋतुचर्या"** है। अब तक आपने आयुर्वेद के विषय में जाना कि आयुर्वेद प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति है, जिसका अभ्युदय वेदों से हुआ है एवं यह ऋषि परम्परा भगवान् धन्वन्तरी से लेकर अग्निवेश-सुश्रुत-चरक-वाग्भट् आदि से चली आरही है।आयुर्वेद विज्ञ महर्षि चरक ने अपने ग्रन्थ चरक संहिता में आयुर्वेद से सम्बंधित रोग एवं उनके उपचार, विविध औषधियां, शारीरिक स्थान आदि प्रतिपादित विषयों में से सूत्र स्थान एवं शरीर स्थान का वर्णन किया है, जिसमें ऋतुचर्या का उल्लेख भी है। आयुर्वेद में ऋतुचर्या के अंतर्गत षड् ऋतुओं (शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत) के अनुसार शरीर एवं मन को स्वस्थ रखने के लिए अपनाई जाने वाली जीवनशैली में आहार-विहार का नियम है, जिसमें प्रत्येक ऋतु के अनुसार खान-पान, दिनचर्या तथा औषधियों में बदलाव किया जाता है, ताकि दोषों (वात, पित्त, कफ) को संतुलित रखा जा सके तथा रोगों से बचा जा सके संभव है। इस दृष्टी से प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम ऋतुचर्या के विषय में विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

4.2 उदेश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- आयुर्वेद के **"स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं"** सिद्धांत का बोध कर सकेंगे।
- आयुर्वेद के सिद्धांतों से परिचित हो सकेंगे।
- ऋतुचर्या का महत्व मानव जीवन में कितना है ? जान पायेंगे।
- ऋतुओं के अनुसार हमें किस प्रकार आहार-विहार व जीवन शैली अपनाना चाहिए, बोध कर पाएंगे।
- वस्तुत: आयुर्वेदशास्त्र मनुष्यों के लिए एक अभय वरदान रुपी शास्त्र है, जिससे अनुशीलन से अवगत होता है कि सभ्य सामाज में स्वस्थता कैसी बनी रहे ? इस तथ्य से आप परिचय होंगे।

4.3 विषय परिचय

आयुर्वेदशास्त्र का अपर नाम आयुष वेद भी है, जिसका आशय आयु को जानने वाला है।अर्थात आयुर्वेदशास्त्र वह शास्त्र है जिसके अंतर्गत मानव की शारीरिक प्रकृति एवं मानसिक प्रकृति को सुदृढ़ बनाने वाले विविध आयामों का अध्ययन किया जाता है।चरकमुनि ने उल्लेख किया है- **"स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम् आतुरस्य व्याधि शमनम्"।** अर्थात स्वस्थ व्यक्ति कैसे स्वस्थ रहे एवं रोगियों का रोग शमन कैसे हो ? इस विषय का चिंतन आयुर्वेद करता है। आयुर्वेद में स्वस्थ एवं चिरायु की कामना करने वाले व्यक्ति को संतुलित आहार- विहार, संयमित जीवन शैली को अपनाने का महत्व निर्दिष्ट किया है।यदि संयमित ऋतुचर्या के अनुसार हम अपना आहार – विहार दिनचर्या रखते हैं तो इससे धातुओं की साम्यता रहती है। आप को ज्ञान होगा कि आयुर्वेद केअनुसार **'षड्ऋतुचर्या'** (छह ऋतुओं की जीवनचर्या) का पालन करना उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायु के लिए अनिवार्य है। 'ऋतुचर्या' शब्द दो शब्दों से बना है: 'ऋतु' (मौसम)

और 'चर्या' (नियम या आचरण)। इसका अर्थ है, बदलते मौसम के अनुसार आहार-विहार में परिवर्तन करना ताकि शरीर की दोष-अवस्था (वात, पित्त, कफ) संतुलित रहे।

4.4 ऋतुचर्या का आधार

आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जिसका उद्देश्य ऋतु परिवर्तन के अनुसार शरीर को संतुलित रखना है। इसके विविध प्रमुख आधार हैं। आइये इस आधार कोसंझते हैं। काल प्रविभागों का स्वास्थ्य तथा स्वस्थवृत्त से सीधा सम्बन्ध है। आदान- विसर्गकाल तथा शास्त्रोक्त षड्ऋतुओं के अनुसार स्वास्थ्य परिरक्षणार्थ ऋतु सम्बन्धी स्वस्थवृत्त का आयुर्वेद में विस्तृत उल्लेख है। आचार्यों ने काल को स्वयम्भू, अनादि, मध्यरहित एवं अनन्त माना है-

'कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनः' (सु.सू. 6:3)।

इसी में रसों की व्यापत्ति, संपत्ति एवं मनुष्यों का जीवन-मरण निहित है। संवत्सर आत्मा वाले उस काल को भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से उसके (1) अक्षिनिमेष, (2) काष्ठा, (3) कला, (4) मुहूर्त, (5) अहोरात्र, (6) पक्ष, (7) मास, (8) त्रऋतु, (9) अयन (दक्षिणायन-उत्तरायण अर्थात् आदान-विसर्गकाल) (10) वर्ष एवं युग ये विभाग-प्रविभाग करते हैं'। माघादि बारह महीनों में दो-दो मास के एक-एक ऋतु के क्रम से छः ऋतुएँ होती है- (1) शिशिर, (2) वसन्त, (3) ग्रीष्म, (4) वर्षा, (5) शरद् एवं (6) हेमन्त'।

1. शिशिर = माघ, फाल्गुन
2. वसन्त = चैत, वैशाख
3. ग्रीष्म = ज्येष्ठ, आषाढ़
4. वर्षा = श्रावण, भादो
5. शरद् = क्वार, कार्तिक
6. हेमन्त = अगहन,पूस

शीत, उष्ण और वर्षा लक्षणों वाली इन ऋतुओं से सोम-सूर्य द्वारा काल विभाग होकर दो अयन बनते हैं- दक्षिणायन तथा उत्तरायण। दो अयन मिलकर एक संवत्सर बनता है। पांच वर्ष का युग होता है। निमेश से लेकर युग तक का चक्रवत घूमता हुआ यह कालचक्र कहलाता है। **कालःचक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमुच्यत इत्येके।' (सू.सू. 6:9)**

शिशिर से लेकर ग्रीष्म तक - ये तीन ऋतुएँ उत्तरायण (सुश्रुत) अर्थात् आदानकाल (चरक) और वर्षा से हेमन्त तक की तीन ऋतुएँ दक्षिणायन (सुश्रुत) या विसर्गकाल (चरक) में आती हैं। विसर्गकाल में वायु अधिक रूक्ष नहीं बहती। विसर्गकाल में चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से सृष्टि को पूर्ण करते हुए सतत पुष्टि प्रदान करता है इसलिए इसे 'विसर्गकाल' कहते हैं। यह सौम्यकाल है। इसके विपरीत आदानकाल में वायु रूक्ष होती है, सूर्य बली होता है। अतः यह आग्नेय काल होता है और सृष्टि से रस शोषण करता है, अतः आदानकाल कहलाता है।

इस काल में जीवों में दुर्बलता आती है- 'नृणां दौर्बल्य- मावहन्ति' (चरक)। चरकसंहिता में कहा गया है कि आदान और विसर्ग कालों में से प्रत्येक के मध्य में मध्य बल, विसर्ग के अन्त तथा आदान के आदि में श्रेष्ठ बल होता है एवं विसर्ग के आदि में तथा आदान के अन्त में दुर्बलता बढ़ती है-

मध्ये मध्यबलं, त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत्।
आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्।। (च.सू. 6:8)

ऋतु परिवर्तन क्रम एवं स्वास्थ्य

ऋतु परिवर्तन, आदान5--विसर्ग एवं स्वास्थ्य—

आयुर्वेद में षड्ऋतुएँ दोषों के चय, प्रकोप, प्रशम के निमित्त कही गयी हैं- **षड्ऋतुवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोशमक निमित्तम् ।** ऋतुओं के प्रभाव से उनके गुणानुसार दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशम होता विहारादिपूर्वक ऋतुचर्या पालन करना चाहिए। विभिन्न ऋतुओं में त्रिदोषों के संचयादि रहता है' और तदनुसार ही मनुष्य को स्वास्थ्य परिरक्षार्थ यथायोग्य औषधि-अन- क्रम को संक्षेप में निम्नलिखित तालिका में वर्णित किया गया है-

ऋतुओं के अनुसार दोषों का संचय-प्रकोप- प्रशमन

ऋतु (Season)	वात	पित्त	कफ
			संचय
शिशिर (Winter)	प्रशम	-	प्रकोप
वसन्त (Spring)	प्रशम	-	
ग्रीष्म (Summer)	संचय	-	प्रशम
	प्रकोप	संचय	संचय
वर्षा (Rainy)			
शरद् (Autumn)	प्रशम	प्रकोप	प्रकोप
हेमन्त (Early winter)	प्रकोप	प्रशम	संचय

संहिताओं में आदान तथा विसर्ग काल की अत्यन्त व्यावहारिक कल्पना के अतिरिक्त षड्ऋतुओं का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। पूरे वर्ष को दोदो मास की छः ऋतुओं में विभाजित - करके उन ऋतुओं में तीनों दोषों के संचय, प्रकोप तथा प्रशमन की कल्पना की गयी है और तदनुसार औषधिपाय बताये गये हैं।विहार तथा स्वस्थवृत्तपरक उ-अन्न- हेमन्त ऋतु में वात का प्रकोप तथा कफ का संचय होता है। हेमन्त ऋतु में बाह्य शैत्य के कारण अन्तरग्नि की वृद्धि होती है जो वातप्रकोप का हेतु बनती है। इस ऋतु में वृद्ध अग्नि के शमनार्थ गुरु आहार लेने की प्रवृत्ति होती है और यह गुरु आहार इस ऋतु में कफ संचय का कारण होता है। वसन्त ऋतु में हेमन्त में संचित कफ सूर्य की किरणों से पिघलकर प्रकुपित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वमनादि शोधन कर्मों द्वारा कफ का निर्हरण करना चाहिए । अन्यथा कफज रोगों की उत्पत्ति की आशंका रहती है। वर्षा ऋतु में पिछले आदानकाल के प्रभाव से शरीर पहले से ही दुर्बल रहता है और मन्दाग्नि हो जाती है। दुर्बल अग्नि और अधिक दुष्ट होकर वातप्रकोप करती है। इस ऋतु में वर्षा जल केअम्लविपाक के कारण पित्त संचय होता है। शरद् ऋतु में सूर्य की उष्ण किरणों के प्रभाव से वर्षा ऋतु में संचित कफ शरद् में प्रकुपित हो जाता है। अतः शरद् ऋतु

में मधुर एवं तिक्त रस, शीत वीर्य तथा लघु गुण और अन्य प्रकार के पित्तघ्न आहारविहार लेने - चाहिए। चरक ने यह भी निर्देश किया हैकि श्रावण, अगहन तथ चैत्र मास में क्रमशः दूषित वात, पित्त तथा कफ का शरीर से निर्हरण करना चाहिए।

वाग्भट् के अनुसार वात का संचय, प्रकोप तथा प्रशमन क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् ऋतु में होता है, कफ का संचयप्रकोप प्रशमन क्रमशः शिशिर-, वसन्त तथा ग्रीष्म में तथा पित्त का क्रमशः वर्षा, शरद् और हेमन्त में होता है।

सुश्रुत के अनुसार भी वात का संचयमन क्रमशः ग्रीष्मप्रश-प्रकोप-, वर्षा तथा शरद् में; पित्त का वर्षा, शरद, हेमन्त में तथा कफ का हेमन्त, वसन्त तथा ग्रीष्म में होता है। इन्हीं के अनुसार उन ऋतुओं में सवृत्त तथा स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार ऋतुओं का शरीर की जैविक अवस्था तथा त्रिदोषों पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। इसीलिए आचार्यों ने विभिन्न ऋतुओं तथा ऋतुसन्धियों के लिए विशेष आहारविहार की - कल्पना की है, जिसे हम 'ऋतुचर्या' कहते हैं। ऋतुचर्या का पालन करने वाले व्यक्ति में दोषों तथा शरीर की अन्य क्रियाओं पर परिर्वतनशील ऋतुओं का अधिक प्रभाव नहीं हो पाता है और व्यक्ति में 'ऋतुक्षमित्व' बना रहता है। वातप्रशमन सीमित -प्रकोप -कफ का ऋतुकृत संचय-पित्त-क्रम में रहे और दोषसाम्य बना रहे, यही ऋतुचर्या का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य से तत्तद् प्रभाव वाले औषध विहार का सेवन उन ऋतुओं में करना चाहिए ।-अन्न-'ऋतुसंधि' अर्थात् ऋतुपरिवर्तनकाल (व्यतीत होने वाली ऋतु का अंतिम सप्ताह तथा आने वाली ऋतु का प्रथम सप्ताह) इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्व का माना गया है। ऋतुसंधि के दो सप्ताह म उन ऋतुओं के आहार विहार को-'पादांशिक क्रम' से छोड़ना व ग्रहण करना चाहिए। इससे ऋतुपरिवर्तन जन्य दोषवैषम्य नहीं हो पाता। षड्ऋतुओं में संशोधन क्रम—

षड्ऋतुओं में स्वभावतः होने वाले त्रिदोषों के संचय, प्रकोप व प्रशमन का विचार करके स्वस्थवृत्तक संशोधन कर्म निम्नलिखित क्रम से कराना चाहिए—

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्यात्॥ (सु.सू. 6:38)

षड् ऋतु	संचय	प्रकोप	प्रशम	निर्दिष्ट कर्म
शिशिर	कफ	—	वात	दीपन, पाचन
वसन्त	—	कफ	वात	वमन
ग्रीष्म	वात	—	कफ	वातहर आहार-विहार
वर्षा	पित्त, कफ	वात	—	वस्ति
शरद्	—	पित्त-कफ	वात	विरेचन
हेमन्त	कफ	वात	पित्त	वस्ति

हेमन्त ऋतु में स्निग्ध तथा अम्ल खट्टा एवं लवण-रस युक्त भोज्य पदार्थों का सेवन तथा मदिरा, शीधु (गन्ने के रस को पका कर उससे तैयार की हुई शराब) तथा मधु का अनुपान हितकर माना जाता है-

"तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान्' रसान्।
औदकानूपमांसानां मेध्यानामुपयोजयेत्"॥

बिलेशयानां मांसानि प्रसहानां भृतानि च।
भक्षयेन्मदिरां सीधुं मधु चानुपिबेन्नरः ॥
गोरसानिचुविकृतीर्वसां तैलं नवौदनम्।
हेमन्तेऽभ्यस्यतस्तायमुष्णं चायुन हीयते ॥

हेमन्त तथा शिशिर ऋतु समान ही है परन्तु शिशिर ऋतु में थोड़ी सी विशेषता यह है कि इस समय आदानकालीन रूक्षता मानसून के कारण शीत की अधिकता होती है। अतः साधारणतः हेमन्तनिर्दिष्ट आहार विहार का ही शिशिर ऋतु में सेवन करना चाहिये। साधारणतया विशेषतः शिशिर में निवातस्थल (जहाँ पर हवा का धारारूप प्रवाह न हो) और उष्ण गृह में वास करना हेमन्त की अपेक्षा और भी अधिक आवश्यक है, शिशिर में कटु (चरपरे), तिक्त तथा कसैले, वातल, लघु तथा शीतल अन्न एवं पान का प्रयोग न करना चाहिये-

हेमन्तशिशिरे तुल्ये शिशिरेऽल्पं विशेषणम्।
रौक्ष्यमादानजं शीतं मेघमारुतवर्षजम् ॥१८॥
तस्माद्धमन्तिकः सर्वः शिशिरे 'विधिरिष्यते।
निवातमुष्णमधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत् ॥१९॥
कटुतिक्तकषायाणि वातलानि लघूनि च।
वर्जयेदन्नपानानि शिशिरे शीतलानि च ॥२०॥

हेमन्त काल में सञ्चित हुआ कफ वसन्त काल के आने पर सूर्य की किरणों से पिघल कर (स्रोतों द्वारा शरीर में फैलकर) कायस्थित अग्नि को दूषित कर देता है तथा तदनन्तर नानाविध ज्वर आदि रोगों को पैदा करता है। इसलिये वसन्त ऋतु (फाल्गुन, चैत्र) में कफशोधनार्थ (तथा अनुबन्धभूत पित्त एवं वायु के शोध-नार्थ) वमन आदि पञ्चकर्म कराना चाहिये। इस समय गुरु, अम्ल, स्निग्ध तथा मधुर आहार और दिन में सोना वर्जित है-

हेमन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्नि बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून् ॥॥२१॥
तस्माद्वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।
गुर्वम्लस्निग्धमधुरं दिवास्वप्न च वर्जयेत् ॥२२॥

बसन्त में व्यायाम, उस्टना, भूमपान, वारा, अञ्जन तथा मुसोप्यामा से स्नान आदि कर बन्दन तथा अगर का लेप करना चाहिये। इस ऋतु में गेर्दै एवं शरभ (हरिणविशेष), शशक तथा एगा (हरिया)लाव (लगा), कपिल (गौरतित्तिरि, श्वेततीर) इनके मांस का सेवन करना चाहिये तथा निगर (मदिराविशेष), सीधु (ईल के रस से तैयार की गयो मय) अथवा माध्वीक (मधु से तप्यार की हुई मय) का पान करना शरीर हेतु लाभप्रद बताया गया है। बसन्त में वनों में एवं बगीचों में सैर करना और अल्प मैथुन हितकर है

चन्दनागुरुदिन्धांगो श्रवगोधूमभोजनः।
शारभं शाशमेर्थ मांसं लायकपिलम् ॥२५॥
मक्षयेनिगई सीधुं पिवेन्मात्रीकमेव वा।
बसन्तेऽनुभवलीण काननानां यौवनम् ॥२५

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य अपनी किरणों से जगत् के स्निग्ध (सार, आप्य, जलीय), भाग का पान करता रहता है। अतएव उस समय स्वादु (मधुररस विशिष्ट), शीतल, द्रव (Liquid) तथा स्निग्ध अन्नपान हितकर होता है। शोतल, खांडयुक्त जलालोड़ित सत्तू तथा जाङ्गल पशु-पक्षियों का

मांस, घृत, दूध एवं शालि चावलों के भात का सेवन करने-वाला पुरुष गर्मियों में दुःखित या रोगयुक्त नहीं होता। ग्रीष्मकाल में (मद्यपायी को थोड़ी मात्रा में ही मद्य पीना चाहिये अथवा अच्छा (यदि पीना ही हो तो) थोड़ी सी मद्य में अधिक मात्रा में जल मिला कर पीचे। इन दिनों में लवण, अम्ल, कटु चरपरे) तथा गरम भोजन और व्यायाम को त्याग देना चाहिए, दिन में शीतलगृह (ठण्डे घर में अथवा कमरे में और रात को चन्द्रमा की चाँदनी से सुशीतल तथा प्रवात (जहाँ पर वायु का निराबाध सञ्चार हो) युक्त हम्यंमस्तक परचन्दन का लेप करके गृह की छत पर शयन करे। मुक्ता (मोती) एवं विविध मणियों को धारण करके पुरुष, चन्दनजल के परिषेक से शीतल पंखे की वायु एवं चन्दनोदक आदि से शीतल हाथों के स्पर्शसुख को अनुभव करता हुआ चौकी या कुसों से युक्त आसन पर बैठे। इस ऋतु में ग्रीष्मकाल में मनुष्य मैथुन से सर्वथा पृथक् रहता हुआ जंगल अथवा बाग बगीचों की शीतल छाया में घूमे, शीतल जल का प्रयोग कर पुष्पों को धारण करे। आदान काल में (स्नेह भाग के खींचे जाने के कारण) दुर्बल हुए शरीर की जाठराग्नि में दुर्बलीभूत अग्नि वात आदि दोषों से युक्त होकर भी अति दुर्बल हो जाती है।

मयूखेजगतः सारं श्रीष्मे पेपीयते रविः ।
स्वादु शीतं द्रवं स्निग्धमन्नपानं तदा हितम् ॥ २६॥
शीतं सशर्करं मन्थं जांगलान्मृगपक्षिणः ।
घृतं पयः सशाल्यन्नं भजन् ग्रीष्मे न सीदति ।। २७।।
लवणाम्लक दूष्णानि व्यायामं चात्र वर्जयेत् ।।२८½।।
दिवा शीतगृहे' निद्रां निशि चन्द्रांशुशीतले ।
भजेच्चन्दनदिग्धाङ्गः प्रवाते हयमस्तके ॥२९॥
शरीरव्यजनैःपाणिसंस्पर्शेश्चन्दनोदकशीतलैः ।
सेव्यमानो भजेदास्यां मुक्तामणिविभूषितः ।।३०॥
काननानि च शीतानि जलानि कुसुमानि च ।
ग्रीष्मकाले निषेवेत मैथुनाद्विरतो नरः ॥३१॥
आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः ।
स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः ॥३२॥(च.सं सूत्र स्थान)

4.4.1 बल वर्धक आदान काल (उत्तरायण)

इसमें सूर्य उत्तर की ओर बढ़ता है, जो शरीर की शक्ति को सोखता है। इसमें **शिशिर, वसंत और ग्रीष्म** ऋतुएं आती हैं। इस समय बल क्रमशः घटता जाता है। ॥५॥चरक संहिता ।

4.4.2 विसर्ग काल (दक्षिणायन)

इसमें सूर्य दक्षिण की ओर बढ़ता है और चंद्रमा बलवान होता है, जो पृथ्वी को शीतलता प्रदान करता है। इसमें **वर्षा, शरद और हेमंत** ऋतुएं आती हैं। इस समय बल क्रमशः बढ़ता है।

4.5 षड ऋतुओं में आहार- विहार

षडऋतुचर्या का पालन केवल परंपरा नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक आवश्यकता है। आधुनिक समय में हम एयर कंडीशनिंग और अप्राकृतिक भोजन के कारण ऋतुओं के प्रभाव को नजरअंदाज कर देते हैं, जिससे जीवनशैली से जुड़ी बीमारियाँ (Lifestyle disorders) बढ़ रही हैं। यदि हम ऋतुचर्या के इन सरल नियमों का पालन करें, तो हम बिना किसी औषधि के आजीवन निरोग रह सकते हैं।

1. शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन)- यह अत्यधिक ठंड का समय है। इस ऋतु में जठराग्नि (पाचन शक्ति) बहुत तीव्र होती है।**आहार:** चूँकि अग्नि तेज होती है, इसलिए भारी और पौष्टिक भोजन करना चाहिए। दूध, घी, नए चावल, गन्ने का रस, तिल और उड़द की दाल का सेवन लाभकारी है।**विहार-** शरीर पर तेल मालिश (अभ्यंग) करें, गर्म पानी से स्नान करें और धूप का सेवन करें। ऊनी वस्त्र पहनें।**वर्जित-** कड़वे, तीखे और ठंडे खाद्य पदार्थों से बचें।

2. वसंत ऋतु (चैत्र-वैशाख / मध्य मार्च से मध्य मई) - सर्दियों में जमा हुआ कफ सूर्य की गर्मी से पिघलने लगता है, जिससे पाचन अग्नि मंद हो जाती है और कफ जनित रोग जैसे खांसी, जुकाम और एलर्जी बढ़ती है।**आहार-** सुपाच्य और हल्का भोजन लें। पुराने जौ, गेहूं, शहद और कड़वी सब्जियों (जैसे नीम, करेला) का सेवन करें।**विहार-** व्यायाम (कसरत) इस ऋतु में अत्यंत आवश्यक है। आँखों में अंजन लगाएं और शरीर पर उबटन करें।**वर्जित-**दिन में सोना (दिवास्वप्न), भारी, मीठा और चिकना भोजन करना कफ को बढ़ाता है।

3. ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ़ / मध्य मई से मध्य जुलाई)-सूर्य की प्रचंड किरणों के कारण शरीर का जलीय अंश सूखने लगता है। बल न्यूनतम हो जाता है।**आहार-** ठंडे और तरल पदार्थों का सेवन बढ़ाएँ। नारियल पानी, सत्तू, आम का पन्ना, दूध और अंगूर का सेवन करें।**विहार-**ठंडे स्थानों पर रहें, ढीले सूती वस्त्र पहनें। रात में चांदनी में बैठना शुभ माना गया है।**वर्जित-** भारी व्यायाम, तेज धूप में निकलना, नमकीन, खट्टा और तीखा भोजन।

4. वर्षा ऋतु (श्रावण-भाद्रपद / मध्य जुलाई से मध्य सितंबर)आकाश से गिरने वाले जल और जमीन से निकलने वाली वाष्प के कारण अग्नि (Metabolism) बहुत कमजोर हो जाती है। वात दोष कुपित होता है।**आहार-** भोजन में अदरक, नींबू और शुद्ध घी का प्रयोग करें। पानी उबालकर पिएं। पुराने अनाज और शहद का सेवन करें।**विहार-**पैरों को सूखा रखें, घर में नमी न होने दें। इस ऋतु में पंचकर्म के अंतर्गत 'बस्ती' क्रिया सबसे लाभकारी है।**वर्जित-**ओस में घूमना, दिन में सोना, नदी का पानी और अधिक शारीरिक परिश्रम।

5. शरद ऋतु (आश्विन-कार्तिक / मध्य सितंबर से मध्य नवंबर)वर्षा के बाद अचानक तेज धूप निकलने से शरीर में संचित 'पित्त' कुपित हो जाता है। यह ऋतु रोगों की दृष्टि से संवेदनशील होती है।**आहार-** मीठा, कड़वा और शीतल भोजन करें। घी का सेवन पित्त को शांत करता है। मुनक्का, आंवला और खीर का सेवन करें।**विहार-**रात्रि में चंद्रमा की किरणों का सेवन (हंसोदक) करना अमृत समान है।**वर्जित-** दही, सिरका, शराब, मांस और दोपहर की धूप।

6. हेमंत ऋतु (मार्गशीर्ष-पौष / मध्य नवंबर से मध्य जनवरी)-इस ऋतु में व्यक्ति का बल और पाचन शक्ति अपने चरम पर होती है।**आहार-**शिशिर की तरह ही गरिष्ठ और मधुर भोजन करें। मूंगफली, तिल, गुड़ और मेवे खाएं।**विहार:** शरीर की मालिश करें, नियमित कसरत करें और शरीर को गर्म रखें।**वर्जित-** हल्का और रूखा आहार वात बढ़ा सकता।

4 .6 ऋतु संधि

ऋतुओं के मिलने के समय को 'ऋतु संधि' कहते हैं (पिछली ऋतु के अंतिम 7 दिन और आने वाली ऋतु के शुरुआती 7 दिन)। इस 14 दिनों की अवधि में पुरानी आदतों को धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए और नई ऋतु के नियमों को अपनाना चाहिए। अचानक हुए परिवर्तन से शरीर बीमार पड़ सकता है।

1. काल विभाजन और आधार- आयुर्वेद के अनुसार, एक वर्ष को दो 'काल' में विभाजित किया गया है, जिनमें प्रत्येक में तीन ऋतुएँ होती हैं।**क.आदान काल (उत्तरायण):** सूर्य उत्तर की ओर बढ़ता है, जिससे प्रकृति की सौम्यता कम होती है और मनुष्यों का बल घटता है। इसमें शिशिर, वसंत और ग्रीष्म ऋतुएँ आती हैं।**ख.विसर्ग काल (दक्षिणायन):** सूर्य दक्षिण की ओर बढ़ता है, चंद्रमा बलवान होता है और मनुष्यों का बल बढ़ता है। इसमें **वर्षा, शरद** एवं**हेमंत** ऋतुएँ आती हैं।

4.7 बोधात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद के अनुसार 'आदान काल' (उत्तरायण) में कौन सी ऋतु नहीं आती है?
(A) शिशिर
(B) वसंत
(C) ग्रीष्म
(D) शरद
2. किस ऋतु में मनुष्य का शारीरिक बल 'न्यूनतम' (कम) होता है?
(A) हेमंत
(B) ग्रीष्म
(C) शिशिर
(D) शरद
3. वसंत ऋतु में किस दोष का प्रकोप (Aggravation) होता है?
(A) वात
(B) पित्त
(C) कफ
(D) उपरोक्त सभी
4. 'हंसोदक' जल का सेवन किस ऋतु में करने का निर्देश दिया गया है?
(A) वर्षा
(B) शरद
(C) हेमंत
(D) वसंत
5. वर्षा ऋतु में मुख्य रूप से कौन सा दोष कुपित होता है?
(A) वात
(B) कफ
(C) पित्त
(D) रक्त
6. किस ऋतु में जठराग्नि (पाचन शक्ति) सर्वाधिक तीव्र होती है?
(A) ग्रीष्म
(B) हेमंत
(C) वर्षा
(D) वसंत

7. 'ऋतु संधि' की कुल अवधि कितनी मानी जाती है?

(A) 7 दिन

(B) 10 दिन

(C) 14 दिन

(D) 21 दिन

8. शहद (Honey) का सेवन विशेष रूप से किस ऋतु में लाभकारी माना गया है?

(A) वसंत

(B) ग्रीष्म

(C) शरद

(D) वर्षा

9. दिवास्वप्न (दिन में सोना) किस ऋतु को छोड़कर शेष सभी में वर्जित है?

(A) हेमंत

(B) शिशिर

(C) ग्रीष्म

(D) शरद

10. पित्त दोष के शमन के लिए 'विरेचन' कर्म किस ऋतु में श्रेष्ठ माना जाता है?

(A) वर्षा

(B) शरद

(C) हेमंत

(D) वसंत

4.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आपने ऋतुचर्या का सांगोपांग अध्ययन किया एवं जाना कि- आयुर्वेद के प्राचीन सिद्धांतों के अनुसार, मनुष्य का शरीर और यह ब्रह्मांड एक ही तत्वों से बने हैं, जिस प्रकार प्रकृति में परिवर्तन होते हैं, उसका सीधा प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है। 'ऋतुचर्या' (ऋतु + चर्या) का अर्थ है—प्रत्येक मौसम के अनुसार आहार (भोजन) और विहार (जीवनशैली) का व्यवस्थित नियम है । षडऋतुचर्या का पालन करने से शरीर बदलते वातावरण के प्रति अनुकूलित हो जाता है। यदि हम ऋतु के अनुसार अपने भोजन और जीवनशैली में बदलाव नहीं करते, तो दोषों का असंतुलन हमें रोगों का शिकार बना देता है।शिशिर ऋतु-जैसे कि हमने उपरोक्त जाना ऋतुचर्या के विषय में कि शिशिर ऋतु (जनवरी मध्य से मार्च मध्य)तक का समय रहता है । यह समय मौसम की दृष्टि से अत्यधिक ठंड का समय होता है। इस समय जठराग्नि (पाचन शक्ति) तीव्र होती है। अत: पाचन की दृष्टि से यह काल उत्तम मना जाता है । आईये जानते हैं इस समय आहार-विहार किस प्रकार का होना चाहिए आयुर्वेद की दृष्टि से –क.आहार- गरिष्ठ (भारी), स्निग्ध (घी-तेल युक्त), नए अन्न, दूध के उत्पाद, गन्ने का रस और गर्म भोजन का सेवन करें। ख.विहार- धूप का सेवन करें, ऊनी वस्त्र पहनें, शरीर पर तेल मालिश (अभ्यंग) करें और गुनगुने पानी से स्नान करें।ग.वर्जित- ठंडी चीजें, वात बढ़ाने वाले हल्के खाद्य पदार्थ और उपवास। 2.वसंत ऋतु- सर्दियों में संचित कफ सूर्य की गर्मी से पिघलने लगता है, जिससे पाचन अग्नि मंद हो जाती है और कफ जनित रोग (खांसी, जुकाम)

बढ़ते हैं। यह समय मार्च मध्य से मई मध्य तक का होता है ।इस काल में हमारा आहार एवं विहार कैसा होना चाहिए आइये जानते हैं। क.आहार- जौ, गेहूं, शहद, कड़वे और तीखे खाद्य पदार्थों का सेवन करें। भारी, खट्टे और मीठे भोजन से बचें।ख.विहार- व्यायाम (व्यायाम) अनिवार्य है। उबटन और औषधीय धूम्रपान का प्रयोग करें। आयुर्वेद में इस ऋतु में 'वमन' (पंचकर्म) की सलाह दी जाती है। जिससे कि पूरे शरीर का शोधन होता है । ग.वर्जित- दिन में सोना (दिवास्वप्न), गरिष्ठ और तैलीय भोजन। 3.ग्रीष्म ऋतु प्रचंड गर्मी के कारण शरीर का बल न्यूनतम हो जाता है और वात संचित होने लगता है। साथ ही वात अधिकता से त्रिदोष (वात-पित्त-काफ) में वैशम्यता उत्पन्न होती है ।यह समय (मई मध्य से जुलाई मध्य) तक का होता है । इस काल में आहार – विहार की चर्या इस प्रकार की होनी चाहिए । क.आहार- मधुर (मीठा), शीतल, तरल और हल्के पदार्थ जैसे सत्तू, आम का पन्ना, नारियल पानी, दूध और चावल लें।ख.विहार- चंदन का लेप लगाएं, ठंडे स्थानों पर रहें, ढीले सूती कपड़े पहनें। ग. वर्जित- व्यायाम, धूप में घूमना, नमकीन, खट्टा और तीखा भोजन, शराब का सेवन। 4.वर्षा ऋतु- आसमान से गिरने वाले जल और जमीन की भाप के कारण पाचन अग्नि अत्यंत दुर्बल हो जाती है। कफ-वात-पित्त त्रिदोषों में वैशम्यता उत्पन्न होती है और विविध व्याधियां उत्पन्न होती है । यह काल (जुलाई मध्य से सितम्बर मध्य) तक का काल रहता है । इस काल में जीवाणु – विषाणुओं का बड़ा भय बना रहता है , इस काल में आहार – विहार बहुत ही अन्तुलित होना चाहिए । क.आहार- पुराने अनाज (गेहूं, चावल), दालों का सूप (यूष), अदरक और सोंठ का सेवन करें। पानी उबालकर पिएं। ख.विहार: घर को सूखा रखें, कीचड़ से बचें, जूते पहनकर चलें। इस ऋतु में 'बस्ती' (एनिमा) कर्म लाभकारी है।ग.वर्जित: दिन में सोना, नदी का पानी, अधिक परिश्रम, खुले में घूमना।5.शरद ऋतु- वर्षा के बाद अचानक निकली धूप से शरीर में संचित पित्त कुपित हो जाता है। इसे 'रोगों की माता' भी कहा जातायह काल (सितम्बर मध्य से नवम्बर मध्य) तक का रहता है । इस काल में आहार – विहार इस प्रकार होना चाहिए- आहार: मधुर, कड़वे और शीतल पदार्थ लें। घी, आंवला, नारियल और चावल उत्तम हैं। 'हंसोदक' (दिन में धूप और रात में चांदनी से शुद्ध जल) का सेवन करें।विहार: चांदनी रात का आनंद लें, ठंडे पानी से स्नान करें। पित्त शुद्धि के लिए 'विरेचन' या 'रक्तमोक्षण' करवाएं।वर्जित: दही, सिरका, तीखा भोजन, धूप का सेवन और दिन में सोना।6.हेमंत ऋतु (नवंबर मध्य से जनवरी मध्य)-इस ऋतु में व्यक्ति का बल और पाचन शक्ति सर्वाधिक होती है।आहार- शिशिर ऋतु की तरह ही स्निग्ध, पौष्टिक और भारी भोजन करें। मूंगफली, गुड़, तिल और नए अनाज का सेवन करें।विहार- नियमित मालिश, व्यायाम और गर्म कपड़ों का उपयोग करें। वर्जित- हल्का और रूखा भोजन, ठंडी हवाएं।

4.9 बोधात्मक प्रश्नों के उत्तर

1 (D) शरद ऋतु 'विसर्ग काल' (दक्षिणायन) का हिस्सा है।
2 (B) ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की प्रचंड गर्मी बल को सोख लेती है।
3 (C) सर्दियों में जमा कफ सूर्य की गर्मी से पिघलकर कुपित होता है।
4 (B) शरद ऋतु में सूर्य और चंद्रमा से शुद्ध जल अमृत तुल्य होता है।
5 (A) वर्षा ऋतु में ठंडक और नमी के कारण वात बढ़ता है।
6 (B) हेमंत (सर्दियों) में आंतरिक ऊष्मा बढ़ने से पाचन बहुत तेज होता है।

7 (C) पिछली ऋतु के अंतिम 7 दिन और अगली के शुरुआती 7 दिन।

8 (A) वसंत में कफ को कम करने के लिए शहद उत्तम है।

9 (C) ग्रीष्म में रातें छोटी और शरीर थका हुआ होता है, इसलिए दिन में सोना अनुमत है।

10 (B) शरद ऋतु में कुपित पित्त को विरेचन द्वारा निकाला जाता है।

4.10 सहायक पाठ्य-सामग्री

1. चरक संहिता - ऋतुचर्या अध्याय सूत्र स्थान पूर्व भाग मोतीलाल प्रकाशन (आयुर्वेद का मूल ग्रंथ)
2. सुश्रुत संहिता-.....
3. स्वस्थवृत्त विज्ञानम-.....
4. वागभट्ट संहिता-.....
5. ऋतुचर्या पर आयुष मंत्रालय - स्वस्थ जीवनशैली (सरकारी दिशा-निर्देश)
6. आयुर्वेद के सोपान-.....

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. ऋतुचर्या से क्या समझते हैं? विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।
2. आदान काल एवं विसर्गकाल, से क्या अभिप्राय है वर्णन कीजिए।
3. ऋतुओं के अनुसार आहार-विहार का वर्णन कीजिए।
4. आज के परिप्रेक्ष्य में ऋतुचर्या का महत्व लिखिए।

खण्ड- तीन (Section-C)
अष्टांग आयुर्वेद

इकाई.1 कायचिकित्सा (सामान्य चिकित्सा) एवं कौमारभृत्य (बालचिकित्सा)

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 कायचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य
    1.3.1 काय शब्द का अर्थ
    1.3.2 चिकित्सा शब्द का अर्थ एवं परिभाषा
    1.3.3 कायचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य
    1.3.4 चिकित्सा के सिद्धान्त
    1.3.5 कायचिकित्सा के ग्रन्थ
1.4 कौमारभृत्य का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य
    1.4.1 कौमारभृत्य का अर्थ
    1.4.2 कौमारभृत्य का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य
    1.4.3 काश्यपसहिंता
    1.4.4 कौमारभृत्य के प्रमुख ग्रन्थ
1.5 सारांश
1.6 पारिभाषिक शब्दावली
1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों!

प्रस्तुत इकाई **'कायचिकित्सा एवं कौमारभृत्य'** से सम्बन्धित है। जैसा की प्रायः सभी जानते हैं कि आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्मा के मुख से प्रकट आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है और उसकी रक्षा कर रहा है। आयुर्वेद न केवल प्राचीन विद्या है, अपितु यह अनादि और शाश्वत शास्त्र है। आचार्य चरक ने आयुर्वेद को इस प्रकार कहा है- "त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यम्" आयुर्वेद के शाश्वत पक्ष को चरक ने माना है। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद का वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्वानों ने आयुर्वेद को "पुण्यवेद" की संज्ञा दी है। आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है।

तस्यायुषो पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः ।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ।।

आचार्य कश्यप ने आयुर्वेद को पञ्चम वेद माना है, क्योंकि आयुर्वेद वेद पर ही आश्रित है। किसी भी वेद या वेदांग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। अतः आयुर्वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है। आयुर्वेद निरोगी जीवन देने वाला है। आयुर्वेद आयु के विज्ञान का शास्त्र है।

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। १ कायचिकित्सा, २ बालतंत्र (कौमारभृत्य),३ ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या), ४ ऊर्ध्वांगचिकित्सा (शालाक्यतंत्र), ५ शल्यचिकित्सा (शल्यतंत्र), ६ दंष्ट्राविषचिकित्सा (अगदतंत्र), ७ जराचिकित्सा (रसायनतंत्र), ८ वृषचिकित्सा (वाजीकरण-तंत्र) ये आठ अंग कहे गये हैं।

आयुर्वेद के सभी अंगों में 'कायचिकित्सा' का प्रमुख स्थान है। अति प्राचीनकाल से वर्तमानकाल तक आयुर्वेद के सम्मान और प्रतिष्ठा का कारण आयुर्वेदीय 'कायचिकित्सा' है। शरीर के सर्वांग में होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ एवं अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को 'कायचिकित्सा' कहते हैं।

आयुर्वेद के आठ अंगों में 'कौमारभृत्य' अंग को काश्यप सहिंता में श्रेष्ठ अंग माना गया है। देखा जाय तो समस्त जगत शिशु पर ही आधारित है, इसलिए उसका महत्व अधिक बढ़ जाता है। कौमारभृत्य को बाल चिकित्सा भी कहते हैं। इसका अर्थ है- बालकों का भरण-पोषण और उनके रोगों की चिकित्सा। इसे Science of Pediatrics कहते हैं। इसमें बच्चों, स्त्रियों विशेषतः गर्भिणी स्त्रियों और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस अंग में है। आपको आयुर्वेद के आठ अंगों में से प्रमुख अंग 'कायचिकित्सा एवं कौमारभृत्य' से अवगत करवाना ही प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों, प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- ❖ चिकित्सा शब्द का अर्थ एवं परिभाषा को जानेगें।
- ❖ कायचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य को जानेंगे।

- ❖ चिकित्सा के सिद्धान्त को समझेंगे।
- ❖ कौमारभृत्य का अर्थ को जानेंगे।
- ❖ कौमारभृत्य का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य जानेंगे।
- ❖ भारतीय आयुर्वेदिक चिकित्सा के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होगी।

1.3 कायचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद मानव के लिए एक वरदान है। आयुर्वेद शब्द आयु:+वेद दो शब्दों के संयोग से बना है। इसका अर्थ होता है **"आयुषो वेद:"** अर्थात जो आयु का वेद है। आयु और वेद इन दोनों शब्दों को अलग-अलग जानकर आयुर्वेद शब्द का अर्थ जानना सरल हो जाता है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिसमें आयु सम्बन्धी विचार हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है।

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। १ कायचिकित्सा, २ बालतंत्र (कौमारभृत्य),३ ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या), ४ ऊर्ध्वांगचिकित्सा (शालाक्यतंत्र), ५ शल्यचिकित्सा (शल्यतंत्र), ६ दंष्ट्राविषचिकित्सा (अगदतंत्र), ७ जराचिकित्सा (रसायनतंत्र), ८ वृषचिकित्सा (वाजीकरण-तंत्र) ये आठ अंग कहे गये हैं।

आयुर्वेद के सभी अंगों में **'कायचिकित्सा'** का प्रमुख स्थान है। अति प्राचीनकाल से वर्तमानकाल तक आयुर्वेद के सम्मान और प्रतिष्ठा का कारण आयुर्वेदीय 'कायचिकित्सा' है। शरीर के सर्वांग में होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ एवं अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को 'कायचिकित्सा' कहते हैं।

1.3.1 काय शब्द का अर्थ-

'कायति शब्दायते इति काय:' अर्थात जो शब्द करे उसे काय कहते हैं। जैसे कान को अंगुली से बन्द करने पर एक ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ध्वनि शरीर के जीवित होने का संकेत है। हृदय की गति का नियमन करना ही कायचिकित्सा है। किसी भी रोग के हो जाने पर हृदय की गति को यथावत् संचालित करना परम आवश्यक है। काय शब्द का दूसरा अर्थ शरीर अथवा देह है। **'चीयतेऽन्नादिर्भि: इति काय:'** अर्थात जिसका अन्नादि आहार से पोषण होता है, उसे काय कहते हैं। इस प्रकार के शरीर की चिकित्सा काय है। काय शब्द का तीसरा अर्थ जठराग्नि है। जीवित प्राणियों की जठराग्नि को काय कहते हैं यह मधुकोष टीका में उद्धृत भोज का वचन है। शरीर में १३ प्रकार की अग्नियाँ होती हैं- एक जठराग्नि, सात धात्वाग्नि और पंच महाभूताग्नि। इन सभी में जठराग्नि प्रमुख है। अतः जठराग्नि के विकृत हो जाने पर उसको प्राकृतिक स्थति में लाने के लिए किए गए उपचारों को **'कायचिकित्सा'** कहा जाता है और जो वैद्य इसका उपचार करता है, उसे **'कायचिकित्सक'** कहते हैं-

जाठर: प्राणिनामग्नि: काय इत्यभि धीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सक:।।

जिस मनुष्य की जठराग्नि ठीक रहती है। उसको कोई रोग नहीं होता और वह दीर्घायु को प्राप्त करता है। इस जठराग्नि की प्रतिष्ठा के कारण ही उसकी चिकित्सा के अंग कायचिकित्सा का आठों अंगों में प्रधान स्थान प्राप्त है।

1.3.2 चिकित्सा शब्द का अर्थ एवं परिभाषा-

चिकित्सा शब्द **'कित् रोगापनयने'** धातु से बना है। अपनयन का अर्थ होत है दूर करना। रोग के अपनयन को चिकित्सा कहते हैं। वैद्यकशब्दसिन्धु मेन वर्णित है- **'या क्रिया व्याधिहरणी या चिकित्सा निगद्यते'** अर्थात जो क्रिया व्याधि को दूर करने के लिए की जाती है, वह चिकित्सा है।

चिकित्सा की परिभाषा यह है कि वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी ये चारों अपने उत्तम गुणों से युक्त होकर, धातु विषमता होने पर, धातु विषमता को दूर करने और धातु समानता की स्थिति लाने के लिए प्रवृत्त होता हैं वह प्रवृत्ति ही चिकित्सा कहलाती है।

1.3.3 कायचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य-

कायचिकित्सा को आयुर्वेद के सभी अंगों में प्रमुख अंग माना जाता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक जो सम्मान और प्रतिष्ठा आयुर्वेदीय **'कायचिकित्सा'** से प्राप्त हुई है, वह अन्य किसी अंग से नहीं प्राप्त हो सकी है। यद्यपि आयुर्वेद अष्टांग है तथापि आद्य रूप त्रिसूत्र अथवा त्रिस्कन्ध है। हेतु, लिंग एवं औषध यही आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्यभूत प्रतिपाद्य विषय है। इसी का पल्लवित एवं विकसित रूप अष्टांग है। इस प्रकार निदान और चिकित्सा ही मुख्य हो जाता है। अतः काय चिकित्सा की आयुर्वेद के सभी अंगों में प्रधानता है। अतएव **निदान** और **चिकित्सा** ये दो पक्ष काय चिकित्सा के माने गये। यद्यपि प्रारम्भ में इनमें कोई विभाजन नहीं था, लेकिन आगे चलकर दोनों का स्पष्ट विभाजन हो गया और दोनों पर ही अलग-अलग वांग्मय लिखे जाने लगे।

ऋग्वेद को सबसे प्राचीन वांग्मय माना जाता है, उसमें अश्वनीकुमारों की चिकित्सा के अनेक चमत्कारपूर्ण उदाहरण दृष्टव्य हैं। च्यवन और वन्दन ऋषि जो जीर्ण शीर्ण थे। उनकी अश्वनीकुमारों ने चिकित्सा की और यौवन प्रदान किया। कक्षीवती की पुत्री 'घोषा' को कुष्टरोग से मुक्ति दिलाई। सूर्यरश्मि द्वारा हृदय रोग की चिकित्सा का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता हैं। 'अपाला' का चर्मरोग तथा उसके पिता का गंजेपन को भी अश्वनीकुमारों ने दूर किया।

यजुर्वेद में भी कई प्रकार के रोगों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे- अर्शरोग, श्लीपद, कुष्ठ, चर्मरोग, यक्ष्मा, विशूचिका, श्वयथु (शोथ), श्लेष्मा और मुखपाक आदि। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। ऋग्वेद में जो तथ्य सूत्ररूप में संकेतित हुए हैं उनका अथर्ववेद में विशद् वर्णन किया गया है। इसमें अनेक रोगों के वर्णन के साथ-साथ उनके निदान को भी बताया गया है।

निदान- निदान शब्द मूल रूप से कारण वाचक है, परन्तु क्रमशः वह रोग विनिश्चयः का कारण बना, अतः निदानपंचक को रोग विज्ञान कहा गया। हेतु, पूर्वरूप, रूप, सम्प्राप्ति तथा उपशय का ज्ञान किये बिना रोग का पूर्वज्ञान नहीं हो सकता और उसके बिना चिकित्सा का होना सम्भव नहीं है। इसलिये आचार्यों ने इस पर निरन्तर बल दिया कि रोग का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात ही चिकित्सा कर्म में चिकित्सक को प्रवृत्त होना चाहिये, अन्यथा सफलता संदिग्ध ही रहेगी। इसी कारण चिकित्सा का प्रथम सूत्र निदान परिवारजन है।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर दोषधातु मलात्मक है। इसी से विकार के परिणामों स्वरूप विकृति का ज्ञान होता है। यह विकृति ही विकृति विज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के रूप में प्राप्त होती है। रोगी परीक्षा का विषय मुख्यतः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है। वैदिक वांग्मय में अनेक रोगों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनमें तक्श, जायान्य, क्षत्रिय, किलास, हरिमा उन्माद, कुष्ठ, शीतला औपसर्गिक रोग तथा नानात्मज्ज विकार उल्लेखनीय हैं। निदान के अन्तर्गत अंजन निदान, सिद्धान्त निदान, नाड़ी विज्ञान तथा अरिष्ट विज्ञान आदि निदान प्रमुख हैं।

चिकित्सा- वैदिककालीन चिकित्सा से पूर्व दैवव्यापाश्रय चिकित्सा की प्रधानता थी। रोग देवता, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के प्रकोप के कारण माने जाते थे। उनको प्रसन्न करने के लिए उपहार, होम, जप, पूजा आदि की जाती थी। वन-जातियों में आजकल भी ज्वर आदि रोगों को भूतजनित माना जाता है और उसकी चिकित्सा झाडफूंक, हवन आदि करके की जाती है। अभिमंत्रित जल के सेवन से, मन्त्रों के प्रयोग से और धूपन आदि ग्रामीण लोगों में चिकित्सा की पद्धति आज भी देखने को मिलती है। आयुर्वेद के '**दैवव्यापाश्रय चिकित्सा**' में इसका समावेश है। रोगी के भय को दूर करके उसमें आत्मविश्वास की उत्पत्ति के लिए, उसके मनोबल में वृद्धि के लिए इन उपचारों को किया जाता था। रोगी के मन को अहितकर विषयों से रोकने को '**सत्त्वावजय चिकित्सा**' कहा गया है।

युक्तिव्यापाश्रय चिकित्सा की तीसरी प्रक्रिया को आयुर्वेदीय सहिंताओं के निर्णय काल में अपनाया गया। इसमें रोगी की प्रकृति, दोषावस्था, देश काल, बल, शरीर-सात्म्य (हितकर) मन की स्थिति आदि पर विचार किया जाता था। रोगी की अलग-अलग स्थिति के अनुसार औषधि का प्रबन्ध किया जाने लगा। वात, पित, कफ इना तीनों दोषों का विस्तृत वर्णन है और इसके ६३ भेद बताये हैं। आचार्य चरक ने कहा है- **"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता"** अर्थात दोष वैषम्य रोग और दोष साम्य आरोग्य हैं। शरीर को इस प्रकार परिभाषित किया है- **"दोषधातुमलं मूलं हि शरीरम्"** अर्थात दोष धातु मल का संगठन शरीर है। स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को यथावत् बनाए रखने के लिये आयुर्वेद में कुछ बातों को आवश्यक बताया है। यथा- दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियम सदाचार, आहार-विहार आदि। इनके नियमों का सावधानी से पालन करने को बताया है। **'नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्।'** (च.सू. ५/१०३) अर्थात जिस प्रकार राजा अपनी अन्तः बाह्य स्थितियों को संभाल कर राज्य का पालन सावधानी से करता है उसी प्रकार अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए।

आचार्य चरक की चिकित्सा भी प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर थी। अतः आयुर्वेदीय चिकित्सा में सर्वद्रव्यीव दृष्टिकोण सबसे बड़ी विशेषता रही है। आयुर्वेदिक चिकित्सा का क्रमिक विकास प्राचीन वैदिक काल से अनवरत आधुनिक काल तक होता रहा। इन चिकित्सा पद्धतियों में पंचकर्म, षट्कर्म तथा शिराव्यध पद्धतियाँ प्रमुख हैं।

1.3.4 चिकित्सा के सिद्धान्त-

- जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ उन कारणों का त्याग करना चाहिए।
- बढ़े हुए दोषों को घटाना चाहिए, क्षीण हुए दोषों को चाहिए और समान दोषों को समान बनाए रखने का पर्यत्न करना चाहिए।

- शीत से होने वाले रोगों में उष्णोपचार और उष्णता से होने वाले रोगों में शीतोपचार करना चाहिए।
- रोग के अनुसार जहाँ उपयुक्त हो वहाँ संशोधन, संशमन विधिपूर्वक करना चाहिए।
- मानसिक रोगों में ज्ञान, विज्ञान, धैर्यस्मृति एवं चित्त की एकाग्रता आदि की प्रक्रिया अपना कर चिकित्सा करनी चाहिए।

1.3.5 कायचिकित्सा के ग्रन्थ-

कायचिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता है। इसके अतरिक्त भेलसंहिता, जतूकर्णसहिंता, क्षारपाणिसहिंता, हारीतसहिंता आदि ग्रन्थ हैं। इनमें चरक सहिंता ही अपने पूर्ण रूप में प्राप्त होती है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा ग्रन्थों में माधव चिकित्सित, वृन्दसंग्रह, चिकित्सा कलिका, चक्रदत्त, बंगसेनकृत चिकित्सा सारसंग्रह, योगतरंगिणी, योगरत्नाकर, भैषज्यरत्नावली, चिकित्सा दर्शन तथा चिकित्सा प्रदीप आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

1.4 कौमारभृत्य का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

1.4.1 कौमारभृत्य का अर्थ-

कौमारभृत्य को बाल चिकित्सा भी कहते हैं। इसका अर्थ है- बालकों का भरण-पोषण और उनके रोगों की चिकित्सा। इसे Science of Pediatrics कहते हैं। इसमें बच्चों, स्त्रियों विशेषतः गर्भिणी स्त्रियों और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस अंग में है।

1.4.2 कौमारभृत्य का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य-

आयुर्वेद के आठ अंगों में कौमारभृत्य अंग को काश्यप सहिंता में श्रेष्ठ अंग माना गया है। देखा जाय तो समस्त जगत शिशु पर ही आधारित है, इसलिए उसका महत्व अधिक बढ़ जाता है। 'कुमार' कार्तिकेय का भी एक नाम है। कार्तिकेय और कार्तिकेय परिवार से कौमारभृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रसूतितन्त्र कौमारभृत्य का एक अंग है। **कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दिष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम्।।** सु.सू. १/५ बालक आयु के अनुसार तीन प्रकार के होते हैं- १. क्षीरप (दूध पीने वाले), २. क्षीरान्नाद (दूध ओर अन्न खने वाले), ३. अन्नाद (केवल अन्न पर निर्भर रहने वाले)

बालक के जन्म लेते ही विभिन्न प्रकार के संस्कारों का विधान है। उनकी रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है। बालरोगों के प्रकरण में अलग-अलग ग्रहों का विस्तृत वर्णन है। इन ग्रहों के वर्णन के साथ इनके उपचार का भी वर्णन है। चरक सहिंता में गर्भिणी स्त्री के साथ-साथ शिशु के पश्चात उत्पन्न विकारों की व्यवस्था के बारे में विशद विवेचन है। बालक के जन्म काल में और बाद में क्या-क्या करना चाहिए। रोगों से बालक की रक्षा करने के लिए वर्णन है।

महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में कुमारोत्पत्ति प्रसंग प्रस्तुत किया है। कौमारभृत्य के अन्तर्गत कुमारभरण, धात्रीक्षीरदोषसंशोधन और दुष्टस्तन्य एवं ग्रहजन्य व्याधियों के उपशमन का वर्णन किया गया है। वय के अनुसार शिशु, बाल और कुमार तथा आरार के अनुसार क्षीरप, क्षीरान्नाद और उन्नाद में त्रिविध विभाजन किया गया है। शिशु के जन्म लेते ही

जातकर्म संस्कार ओर स्वर्णादि मेध्य आयुष्य द्रव्यों के लेह का विधान है। अन्नप्राशन आदि संस्कारों का भी विधान है। बालरोगों के प्रकरण में बालग्रहों का विस्तार से वर्णन है।

आयुर्वेदीय कौमारभृत्य में बालग्रहों का विशेष महत्व है। बालकों के अनेक रोगों जिनका कोई विशिष्ट नामकरण नहीं हुआ वे बालग्रह के अंतर्गत कर दिये गये। सुश्रोक्त ९ ग्रहों में वाग्भट्ट ने श्वग्रह, पितृग्रह और शुष्करेवती ये तीन और जोड़कर इनकी संख्या १२ कर दी है। श्वग्रह सम्भवतः जलसंत्रास का ही एक रूप है। स्कन्धभैषज्य जम्भ तथा ग्रहों की चिकित्सा का उल्लेख कौशिकसूत्र (२८/१-२) में मिलता है। ग्रहसूत्रों में नवग्रह का उपचार विहित है।

गर्भ का पोषण नाभि द्वारा ही होता है। इसलिए नाभि में प्राणों की स्थिति मानी गयी है- **'नाभिधृता वै गर्भाः'** (जै० ब्रा० १/३०६)। सुश्रुत ने भी नाभि में ज्योति स्थान माना है जो गर्भ के विकास के लिए महत्वपूर्ण है (शा० ४/५७) तथा नाभि को सिराओं का मूल माना है। (शा० ७/२-३) कुमारागार का वर्णन चरक सहिंता (शा० ८/६०-६८) आदि में किया गया है। कुमार के खिलौने, वस्त्र, शय्या आदि का विशद वर्णन है। बालक को विकारों से बचाने के लिए रक्षा विधान का निर्देश है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त पुत्र भरत को मारीच कश्यप ने रक्षानिमित्त अपराजितामूल का मणिबन्ध दिया था। बाणभट्ट की रचनाओं में भी कुमारागार और कुमार सम्बन्धी विधानों का चित्रण मिलता है। काश्यपसहिंता के अतरिक्त वृद्धकश्यपसहिंता, पर्वतकतन्त्र, बन्धकतन्त्र, हिरण्याक्षतन्त्र तथा कुमारतन्त्र कौमारभृत्य के उपजीव्य तंत्र थे।

1.4.3 काश्यपसहिंता-

काश्यपसहिंता कौमारभृत्य का सर्वप्रमुख ग्रन्थ है। इसमें बहुत ऐसे विषय है, जिनका उल्लेख अन्य सहिंताओं में नहीं हैं। इसका वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार से है- **दन्तजन्माध्याय** (दांतों के बारे में), **स्वेदाध्याय** (स्वेदन के बारे में), **लक्षणाध्याय** (सामुद्रिक लक्षणों के बारे में), **वेदाध्याय** (वाणी के बारे में), **रेवतीकल्पाध्याय** (जातहारिणी ग्रह का वर्णन)।

१. **दन्तजन्माध्याय-** में दांतों के भेद, उनकी प्रशस्तता, बालक-बालिकाओं के दाँतों में भेद आदि विषय महत्वपूर्ण है।
२. **स्वेदाध्याय-** में बालकों के स्वेदन के विषय में बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है।
३. **लक्षणाध्याय-** में सामुद्रिक लक्षणों का विशेष वर्णन किया गया है। अत्यन्त छोटे बालकों में अश्मरी के उद्धरण तथा तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग का विशेष रूप से निषेध किया गया है।

बालकों में वस्तिकर्म में विशेष सावधानी बरतने का निर्देश किया गया है। 'फक्करोग' का विशेष वर्णन है, इस रोग में तीन पहिये की गाड़ी का उल्लेख है। 'अन्नप्राशन' विधान में छठे महीने में फलों का रस और बारहवें महीने के बाद अन्न देने का विधान बताया गया है।

४. **वेदनाध्याय-** में वाणी द्वारा वेदना बताने में असमर्थ बालकों की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं के द्वारा उनके अंगों की वेदना का अनुमान के माध्यम से जानने का निर्देश है।
५. **रेवतीकल्पाध्याय-** में जातिहरणी ग्रह का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। उसमें आचार एवं अपने-अपने कर्त्तव्य पालन का तिरस्कार करने वाले को जातहारिणी ग्रह के ग्रहण की बात खी गयी है। इस माध्यम से सामाज के प्रत्येक वर्ग को अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा ओए ईमानदारी बर्तने का संकेत किया गया है।

1.4.4 कौमारभृत्य के प्रमुख ग्रन्थ-

कौमारभृत्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं- चरक सहिंता, सुश्रुतसहिंता, अष्टांगहृदय, बालचिकित्सामृत, कुमारतन्त्र और कौमारभृत्य आदि। लेकिन 'काश्यपसहिंता' कौमारभृत्यतन्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है।

१. जीवकतन्त्र - अनुपलब्ध ग्रन्थ
२. पार्वतकतन्त्र - अनुपलब्ध ग्रन्थ
३. हिरण्याक्षतन्त्र - अनुपलब्ध ग्रन्थ
४. बन्धकतन्त्र - अनुपलब्ध ग्रन्थ
५. बालतन्त्र - कल्याण वर्मा कृत
६. कुमारतन्त्र समुच्चय - रामनाथ द्विवेदी
७. कौमारभृत्य - रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी
८. अभिनव कौमारभृत्य - राधाकृष्णनाथ

1.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों!

प्रस्तुत इकाई में आपने 'कायचिकित्सा एवं कौमारभृत्य' का भली-भान्ति अध्ययन किया। आपने जाना कि आयुर्वेद के सभी अंगों में 'कायचिकित्सा' का प्रमुख स्थान है। अति प्राचीनकाल से वर्तमानकाल तक आयुर्वेद के सम्मान और प्रतिष्ठा का कारण आयुर्वेदीय 'कायचिकित्सा' है। शरीर के सर्वांग में होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ एवं अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अंग को 'कायचिकित्सा' कहते हैं। यद्यपि आयुर्वेद अष्टांग है तथापि आद्य रूप त्रिसूत्र अथवा त्रिस्कन्ध है। हेतु, लिंग एवं औषध यही आयुर्वेद का मुख्य लक्ष्यभूत प्रतिपाद्य विषय है। इसी का पल्लवित एवं विकसित रूप अष्टांग है। इस प्रकार निदान और चिकित्सा ही मुख्य हो जाता है। अतः काय चिकित्सा की आयुर्वेद के सभी अंगों में प्रधानता है। अतएव निदान और चिकित्सा ये दो पक्ष काय चिकित्सा के माने गये। यद्यपि प्रारम्भ में इनमें कोई विभाजन नहीं था, लेकिन आगे चलकर दोनों का स्पष्ट विभाजन हो गया और दोनों पर ही अलग-अलग वांग्मय लिखे जाने लगे। आयुर्वेद के अनुसार शरीर दोषधातु मलात्मक है। इसी से विकार के परिणामों स्वरूप विकृति का ज्ञान होता है। यह विकृति ही विकृति विज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के रूप में प्राप्त होती है। रोगी परीक्षा का विषय मुख्यतः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है।

आयुर्वेद के आठ अंगों में कौमारभृत्य अंग को काश्यप सहिंता में श्रेष्ठ अंग माना गया है। देखा जाय तो समस्त जगत शिशु पर ही आधारित है, इसलिए उसका महत्व अधिक बढ़ जाता है। बालक के जन्म लेते ही विभिन्न प्रकार के संस्कारों का विधान किया जाता है। उनकी रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है। बालरोगों के प्रकरण में अलग-अलग ग्रहों का विस्तृत वर्णन है। इन ग्रहों के वर्णन के साथ इनके उपचार का भी वर्णन है। आचार्य चरक कृत चरक सहिंता में गर्भिणी स्त्री के साथ-साथ शिशु के पश्चात उत्पन्न विकारों की व्यवस्था के बारे में विशद विवेचन प्राप्त होता है। बालक के जन्म काल में और बाद में क्या-क्या करना चाहिए। रोगों से बालक की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए इत्यादि का विशद् वर्णन है।

1.6 पारिभाषिक शब्दावली

- कौमारभृत्य - शिशु की देख-भाल से सम्बन्धित
- विशद - निर्मल, स्वच्छ
- अतिसार - दस्त
- कुष्ठ - संक्रामक रोग
- पल्लवित - विकसित
- उपशमन - शान्त होना
- निदान - रोग का कारण
- सर्वांग - सारा शरीर
- सिद्धान्त - निश्चित मत
- चिकित्सा - उपचार, इलाज़
- नष्ट - चौपट, नाश
- संहिता - संयोग, संग्रह, संकलन
- समाहित - व्यवस्थित रूप में एकत्र किया हुआ
- शाश्वत - सदा रहने वाला, जो कभी नष्ट न हो

अभ्यास प्रश्न-1

१. अथर्ववेद का उपवेद किसे कहा जाता है?
२. आयुर्वेद के शाश्वत पक्षधर कौन हैं?
३. आयुर्वेद को पंचम वेद किसने माना है?
४. आयुर्वेद के कितने अंग माने जाते हैं?
५. शरीर में कितने प्रकार की अग्नियाँ होती हैं?
६. सबसे प्राचीन वांग्मय किसे माना जाता है?
७. महाकवि कालिदास ने कुमारोत्पत्ति प्रसंग किस महाकाव्य में प्रस्तुत किया है?
८. 'बालतन्त्र' ग्रन्थ के प्रणेता कौन हैं?
९. 'अभिनव कौमारभृत्य' के प्रणेता कौन हैं?
१०. 'कौमारभृत्य' अंग को किस ग्रन्थ में श्रेष्ठ माना गया है?
११. जठराग्नि के विकृत हो जाने पर उसको प्राकृतिक स्थति में लाने के लिए किए गए उपचारों को----------कहा जाता है।
१२. चिकित्सा शब्द----------धातु से बना है।
१३. आयुर्वेद की अमृत धारा----------काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है।
१४. अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त पुत्र----------को मारीच कश्यप ने रक्षानिमित्त अपराजितामूल का मणिबन्ध दिया था।
१५. कौमारभृत्य को----------भी कहते हैं।

1.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. आयुर्वेद
२. आचार्य चरक
३. आचार्य कश्यप
४. आठ
५. १३
६. ऋग्वेद को
७. कुमारसम्भव
८. कल्याण वर्मा
९. राधाकृष्णनाथ
१०. काश्यपसहिंता
११. कायचिकित्सा
१२. कित् रोगापनयने
१३. अनादि
१४. भरत
१५. बाल चिकित्सा

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत-वांग्मय का बृहद् इतिहास (सप्तदश-खण्ड आयुर्वेद का इतिहास), प्रधान सम्पादक स्व० पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, प्रो. श्रीनिवास रथ, सम्पादक डॉ रमानाथ द्विवेदी, प्रो. रविदत्त त्रिपाठी, प्रकाशक- प्रमोदकुमारपाण्डेय, निदेशक, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (पृष्ट संख्या ३७७, ३७८, ३७९)
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, लेखक आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी, (पृष्ट संख्या ५३५, ५३६, ५३७)
3. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त, (पृष्ट संख्या ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८१, ८२)
4. आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय, (पृष्ट संख्या २४३, २४४, २४५, २४६, २५७)
5. अष्टांगहृदयम्, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़ पो. बा. नं. २११३, दिल्ली ११०००७
6. सुश्रुतसंहिता (उत्तरतन्त्र), व्याख्याकार डॉ अम्बिकादत्तशास्त्री, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

१. कायचिकित्सा का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।
२. कौमारभृत्य का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए।
३. आयुर्वेद के अन्तर्गत निदान एवं चिकित्सा की विवेचना कीजिए।
४. कायचिकित्सा एवं कौमारभृत्य के ग्रन्थों का परिचय दीजिए।

इकाई-2 शल्यतंत्र (सर्जरी) एवं शालाक्य-तंत्र (प्रवेश और नेत्र-विज्ञान)

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 शल्यतंत्र (Surgery) का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

- 2.3.1 शल्य का अर्थ
- 2.3.2 वैदिक वांग्मय में शल्यतंत्र
- 2.3.3 रामायण एवं महाभारत में शल्यतंत्र
- 2.3.4 सुश्रुत संहिता में शल्यतंत्र
- 2.3.5 शल्यतंत्र के ग्रन्थ
- 2.3.6 शल्यतंत्र के वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ

2.4 शालाक्य तंत्र का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

- 2.4.1 शालाक्य तंत्र का अर्थ
- 2.4.2 वैदिक वांग्मय में शालाक्य तंत्र
- 2.4.3 सुश्रुतसंहिता
- 2.4.4 शालाक्य तंत्र के ग्रन्थ
- 2.4.5 नेत्र विज्ञान का परिचय
- 2.4.6 नेत्र का स्वरूप
- 2.4.7 नेत्र रोग की उत्पत्ति सम्बन्धी मीमांसा

2.5 सारांश

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई **'शल्यतंत्र (सर्जरी) एवं शालाक्य-तंत्र (प्रवेश और नेत्र-विज्ञान)'** से सम्बंधित है। आयुर्वेद के आठ अंगों में शल्यतंत्र सबसे प्रधान माना जाता है। क्योंकि प्रथम देवासुर-संग्राम में युद्ध में हुए घावों की सद्यः पूर्ति के लिए इसी की आवश्यकता पड़ी थी। उस समय देवताओं के वैद्य अश्वनी कुमारों ने इस तंत्र का समुचित प्रयोग दिखाया था। वर्तमान समय में भी शल्यचिकित्सा का कुशल चिकित्सक प्रतिनिधित्व करते हैं। शल्यतंत्र अति प्राचीन तंत्र माना गया है। इस तंत्र का उद्भव वैदिक काल से ही माना जाता है। वेदों में यत्र-तत्र शल्यतंत्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद के बृहत्रयी ग्रन्थ चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट में अष्टांग आयुर्वेद की कल्पना की गयी है, जिसमें शल्यतंत्र और शालाक्यतंत्र एक प्रमुख अंग के रूप में वर्णित हैं। सुश्रुत संहिता में शल्य और शालाक्य विषयक सिद्धान्त आज के आधुनिक युग में भी प्रासंगिक हैं। आपको आयुर्वेद के इन्हीं सिद्धान्तों से अवगत करवाना प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

2.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- शल्यतंत्र (Surgery) का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य के बारे में जानेंगे।
- शल्यतंत्र के वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थों के बारे में जानेंगे।
- शालाक्य तंत्र का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य के बारे में जानेंगे।
- नेत्र विज्ञान के बारे में जानेंगे।
- नेत्र रोग की उत्पत्ति सम्बन्धी मीमांसा को जानेंगे।

2.3 शल्यतंत्र (Surgery) का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। १ कायचिकित्सा, २ बालतंत्र (कौमारभृत्य),३ ग्रहचिकित्सा (भूतविद्या), ४ ऊर्ध्वांगचिकित्सा (शालाक्यतंत्र), ५ शल्यचिकित्सा (शल्यतंत्र), ६ दंष्ट्राविषचिकित्सा (अगदतंत्र), ७ जराचिकित्सा (रसायनतंत्र), ८ वृषचिकित्सा (वाजीकरण-तंत्र) ये आठ अंग कहे गये हैं। इन्हीं अंगों में सम्पूर्ण चिकित्सा आश्रित है। आयुर्वेद के आठ अंगों में शल्यतंत्र सबसे प्रधान है। क्योंकि प्रथम देवासुर-संग्राम में युद्ध में हुए घावों की सद्यः पूर्ति के लिए इसी की आवश्यकता पड़ी थी। उस समय देवताओं के वैद्य अश्वनी कुमारों ने इस तंत्र का समुचित प्रयोग दिखाया था। वर्तमान समय में भी शल्यचिकित्सा का कुशल चिकित्सक प्रतिनिधित्व करते हैं।

2.3.1 शल्य का अर्थ-

शल्य शब्द का मूल "शल् हिंसायाम" है। अर्थात जो शरीर में हिंसा करता है। उसे शल्य कहते हैं। **'शल्य हिंसायाम् धातुः तस्य शल्यमितिरूपम्'** (सु०श्रू० २६/३) आचार्य सुश्रुत कहते हैं- शीघ्रता पूर्वक आकार जो शरीर और मन को दुःख पहुचता है, उसे शल्य कहते हैं।

'शल्यं नाम विविधतृण काष्ठापाषाणपांशुलोहलोष्टास्थित बाल नख पूयास्रावदुष्ट वर्णान्तर्गर्भ शल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्र क्षाराग्नि प्रणिधान व्रणविनिश्चायार्थञ्च। (सु० सू० १/९) अर्थात जिस शास्त्र में विविध प्रकार के तृण (घास), लकड़ी, पत्थर, धुली के लोहा, मिट्टी, हड्डी, केश, नाख़ून, पूय (मवाद Pus), स्राव (Discharge), दूषित व्रण, अन्त: शल्य तथा गर्भ (मातृगर्भ) शल्य आदि को निकालने का ज्ञान, तथा यंत्रों एवं शस्त्रों के प्रयोग एवं व्रणों के निदान तथा उसकी चिकित्सा आदि का समावेश श्ल्यतंत्र के अन्तर्गत किया जाता है।

शल्यतंत्र अति प्राचीन तंत्र माना गया है। इस तंत्र का उद्भव वैदिक काल से ही माना जाता है। वेदों में यत्र-तत्र शल्यतंत्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद के बृहत्रयी ग्रन्थ चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट में अष्टांग आयुर्वेद की कल्पना की गयी है, जिसमें शल्यतंत्र और शालाक्यतंत्र एक प्रमुख अंग के रूप में वर्णित हैं। सुश्रुत संहिता में शल्य और शालाक्य विषयक सिद्धान्त आज के आधुनिक युग में भी प्रासंगिक हैं।

2.3.2 वैदिक वांग्मय में शल्यतंत्र-

भारतीय शल्यतंत्र प्रागैतिहासिक युग से प्रारम्भ होकर आज तक विभिन्न उतार-चढाव के दौर से गुजरती हुई निरंतर प्रगतिशील है। शल्यतंत्र की उत्पत्ति वेदों से है और वेद विश्व के सर्वोच्च एवं अनादि साहित्य है। वेदों को चार भागों में बांटा गया है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। इना चारों वेदों में शल्य सम्बन्धी विषय यत्र-तत्र मिलते हैं।

ऋग्वेद में शल्य के अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं। उससमय देववैद्य अश्वनी कुमारों के चमत्कारिक कार्यों से तत्कालीन शल्यतंत्र की विकसित स्थिति का पता चलता है। सन्धाकर्म (Plastic Surgery) और (Transplantation) का काम अश्वनी कुमारों ने किया था। रवेल राजा की पत्नी विश्वपाल की टांग युद्ध में कट गयी थी। उसे लोहे की जांघ लगा कर जोड़ दिया गया था।

'प्रग्वर्यविद्या' वह विद्या है जिसके द्वारा कटे हुए सिर को जोड़ दिया जाता था। इसी विद्या द्वारा अश्वनी कुमारों ने दधीचि ऋषि के सिर को धड़ से अलग करके उसकी जगह घोड़े के सिर को उनके सिर पर लगाया था और पुन: मनुष्य का सिर जोड़ दिया था। यह वेदों में उल्लिखित है। यजुर्वेद में शल्यप्रधान तथा कायिक प्रधान रोगों के निवारण हेतु प्रार्थना मिलती है। सामवेद में शल्य सम्बन्धित विषयों का बहुत कम वर्णन प्राप्त होता है। सामवेद में इन्द्र को अश्वनी कुमार के बाद वैद्य संज्ञा प्रदान की गयी है। अथर्वेद में आयुर्वेद सम्बन्धी विषय का विस्तार से वर्णन मिलता है। कुछ विद्वान आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। चिकित्सा के विभिन्न विषयों के साथ शल्य चिकित्सा सम्बन्धित आख्यान अथर्वेद में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। यथा- मूढ़ गर्भ चिकित्सा, अश्मरी मूत्र दोष निवारण, रुधिर स्राव चिकित्सा, विष में बुझे व्रण की चिकित्सा, व्रण की चिकित्सा, क्षतव्रण और छिन्न अंगों की चिकित्सा, अस्थि भग्न चिकित्सा, दण्ड तथा इक्षु से किए व्रण की चिकित्सा और विद्रधि विसर्प की चिकित्सा आदि। जैमनीय ब्राह्मण का एक आख्यान प्रसिद्ध है कि किसी कुमार का शरीर रथ चक्र से छिन्न हो गया था, उसको ठीक करके अश्वनी कुमारों ने पुनर्जीवित किया था। शतपथ ब्राह्मण में जल द्वारा व्रण चिकित्सा तथा यज्ञ द्वारा युद्ध में लगे हुए बाण को निकालने का वर्णन मिलता है।

2.3.3 रामायण एवं महाभारत में शल्यतंत्र-

अश्वनी कुमारों का उल्लेख वाल्मीकि रामायण में मिलता है। (रामायण बाल का० ४९/ ६-१०) गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या के साथ दुराचार करने के कारण गौतम ऋषि के श्राप से इंद्र के वृषण शुष्क हो गये थे, उस जगह मेष के वृषण का प्रत्यारोपण किया गया था।

महाभारत में सैन्य चिकित्सा का वर्णन मिलता है। युधिष्ठिर ने सैन्य चिकित्सा के लिए शस्त्र विशारद वैद्य रखे थे। (महाभारत उद्योग पर्व १०/१२) महाभारत में भीष्म जब शर शय्या पर पड़ गये थे, तब उनकी चिकित्सा हेतु दुर्योधन शल्य निकालने में निपुण वैद्यों को लेकर पहुंचे थे। (महाभारत भीष्म पर्व २०/५५/५९)

2.3.4 सुश्रुत संहिता में शल्यतंत्र-

आचार्य सुश्रुत ने सर्वप्रथम शल्यतंत्र सम्बन्धित विषयों का विषद वर्णन अपनी रचना सुश्रुत संहिता में किया है। सुश्रुत संहिता आज उपलब्ध है। वह दो भागों में विभक्त है। पूर्वतंत्र और उत्तरतंत्र। सुश्रुत संहिता का पूर्वतंत्र मुख्य रूप से शल्य प्रधान है। इसमें पाँच स्थान हैं। प्रथम सूत्र स्थान में शल्य सिद्धांत एवं शल्य जन्य व्याधियों का सामान्य विवरण है। द्वितीय निदान स्थान में शल्य जन्य व्याधियों के लिए निदान है। तृतीय शरीर स्थान में शरीर रचना सम्बन्धित विषय का वर्णन है। चतुर्थ चिकित्सा स्थान में शल्य जन्य व्यधियों की चिकित्सा है। पंचम क्ल्पस्थान में विष विज्ञान सम्बन्धित विषयों का वर्णन मिलता है। उत्तर तंत्र में नेत्र, नासा, कर्म, गला, सिर, मुख रोग, बाल रोग, स्त्री प्रसूति रोग आदि का वर्णन मिलता है।

शल्य विद्यार्थी के गुण- आचार्य सुश्रुत ने शल्यतंत्र के अध्ययन के लिए शिष्य की परीक्षा का उल्लेख किया है। जो आज चिकित्सा संस्थाओं में प्रवेश के लिए योग्यता परिक्षण के रूप में समझा जा सकता है। सुश्रुत के अनुसार शल्यतंत्र के लिए विद्यार्थी उत्तम कुल, योग्य आयु, सुशील, शौर्य, पवित्र आचार, विनय, शक्ति, बल, मेधा, धृति, स्मृति, मति और अर्थ ज्ञान में निपुण आदि गुणों से युक्त हो। वह प्रसन्नचित, मधुरवाणी वाला एवं सभ्य चेष्टा वाला होना चाहिये, क्लेश सहन करने की क्षमता रखता हो, ऐसे शिष्य को शल्यतंत्र के अध्ययन हेतु चयन करना चाहिये। (सु०सू २६३) एक अच्छे शल्यज्ञ को शरीर रचना का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। सुश्रुत संहिता में शरीर रचना सम्बन्धित ज्ञान के लिए शवच्छेदन एवं उनके संरक्षण का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है।

यंत्र एवं शस्त्र- आचार्य सुश्रुत ने शल्य कर्मों को प्रतिपादित हेतु दो प्रकार के Instruments बताये हैं- यंत्र एवं शस्त्र। यंत्र जो धार रहित होते हैं। उनके छ: प्रकार तथा कुल संख्या १०१ बताई गयी है। यंत्रों की आकृति, प्रमाण, कार्य, गुण, दोष आदि को सुश्रुत ने विस्तृत रूप दिया है। शस्त्र जो धार युक्त होते हैं उनकी संख्या २० बताई गयी है। शस्त्रों का भी आकृति, प्रमाण, कार्य, गुण, दोष आदि को सुश्रुत ने विस्तृत वर्णन किया है।

संधान कर्म (Plastic Surgery)- आचार्य सुश्रुत को संधान कर्म का जनक माना गया है। सुश्रुत संहिता में संधान कर्म के लिए सिद्धान्त के साथ-साथ नासा संधान एवं ओष्ठ संधान का वर्णन प्राप्त होता है।

अग्निकर्म, क्षारकर्म एवं रक्त विस्रावण- ये शल्य कर्म के समानान्तर चिकित्सा कर्म है।

प्राचीन भारत में काशी, तक्षशिला एवं नालंदा शल्यतंत्र के केंद्र थे। यहाँ शल्य तंत्र के अध्ययन एवं अध्यापन के उत्तम शिक्षण व्यवस्था थी। उस समय के प्रसिद्ध शिक्षा विद आचार्य जीवक (५ वीं शताब्दी) तक्षशिला के स्नातक थे। आचार्य जीवक एक महान शल्यज्ञ थे।

मध्यकालीन भारत में विदेशी आक्रमणों के कारण राजनैतिक अस्थिरता आ गयी। इस काल में आक्रमणकारियों ने बड़े-बड़े पुस्तक संग्रहालयों को लूट लिया अथवा जला दिया था। जिसके कारण विज्ञान के साथ-साथ शल्यतंत्र का साहित्य भी लुप्त हो गया था। उत्तर मध्यकाल में पुन: चिकित्सा शास्त्र की उन्नति की और ध्यान दिया गया और आयुर्वेद की कई पुस्तकें लिखी गयी। जैसे चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग हृदय आदि का अनुवाद अरबी एवं फारसी में करवाया गया। अंग्रजों ने भारत पर आक्रमण के दौरान यहाँ की पारम्परिक विज्ञान एवं चिकित्सा पद्धति तथा अन्य विद्याओं को भी बढने से रोका। भारत में शल्य तंत्र कुछ घरानों में यत्र-तत्र वंशानुगत क्रम में व्यवहार रूप में जीवंत था। इसका उदाहरण १७७२ ई० में टीपू सुल्तान एवं अंग्रेजों के बीच मैसूर युद्ध में टीपू सुल्तान के सैनिक अंग्रेजों की तरफ से लड़ रहे एक "कोवास जी" नामक गाड़ीवान एवं चार सिपाहियों को पकड़कर उनके नाक काट दिए। इसके पश्चात मराठी शल्य चिकित्सक ने सफलता पूर्वक उसके कटे अंगों को संधान किया, जिसे दो अंग्रज सर्जन ने देखा। जिसका सचित्र प्रकाशन पहले "मद्रास गजेट" में फिर लन्दन में अक्टूबर १७९४ ई० में "जेन्टलमैन्स" पत्रिका में हुआ। १९ वीं शताब्दी तक आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन गुरु शिष्य परम्परा द्वारा प्रचलित था। १९ वीं शताब्दी के अन्त एवं २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में यत्र-तत्र भारत में आयुर्वेद महाविद्यालयों की स्थापना हुई, जिसमें भारतीय चिकित्सा पद्धति के अध्ययन एवं अध्यापन एवं उसके व्यवहारिक ज्ञान पर जोर दिया गया।

2.3.5 शल्यतंत्र के ग्रन्थ-

शल्यतंत्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत संहिता' है। इसमें व्रणागार व्यवस्था, व्रणो के प्रकार, व्रणो की चिकित्सा के साठ उपक्रम, दग्ध, आठ प्रकार के शस्त्रकर्म, उपयोगी यंत्रशास्त्र, जलौका, क्षार-कर्म व अग्निकर्म, सिरावेध आदि का विस्तृत रिप से वर्णन किया गया है। अर्श, पत्थरी और भगन्दर आदि में शस्त्र प्राणिधान का विधान है। कान, नाक और ओष्ठ कट जाने पर उसके सन्धान की विधि को विस्तार से वर्णित किया गया है। यह सन्धान सुश्रुत संहिता की ही मौलिक देन है। आधुनिक सर्जरी के विकास का आधार सुश्रुत संहिता को ही माना जाता है।

2.3.6 शल्यतंत्र के वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ-

१. शल्यतन्त्रसमुच्यः – इसे पंडित वामदेवमिश्र जी ने १९२९ में स्वयं लिखकर प्रकाशित किया।

२. सौश्रुति- रमानाथ द्विवेदी जी द्वारा रचित यह ग्रन्थ अधिक प्रचलित है। इसका प्रकाशन १९६८ में चौखम्भा से हुआ।

३. शल्यसमन्वय:- यह ग्रन्थ अनन्तशर्मा जी के द्वारा प्रणीत है। यह १९६३-१९६५ में हरिद्वार से प्रकाशित हुआ।

४. शल्यप्रदीपिका:- यह मुकुन्दस्वरूप जी द्वारा रचित ग्रन्थ है और यह वाराणसी से प्रकाशित है।

इन ग्रन्थों के अतरिक्त शल्यचिकित्सा के वरदान, सर्जिकल इथिक्स इन आयुर्वेद, शल्यतंत्र में रोगी परीक्षा, भग्नचिकित्सा, आधुनिक चिकित्सा के सिद्धान्त, शल्यविज्ञान, क्लीनिकल शल्य विज्ञान आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं।

2.4 शालाक्य तंत्र का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य

ऊर्ध्वांगचिकित्सा (शालाक्यतंत्र) नेत्र, मुख, कान, नासिका आदि में आधारित रोगों की शलाका आदि की जाने वाली चिकित्सा ही इस अंग का प्रधान क्षेत्र है।

2.4.1 शालाक्य तंत्र का अर्थ-

गले के ऊपर के अंगों की चिकित्सा में बहुधा शलाका सदृश यंत्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होने के से इसे शालाक्य कहते हैं। **'शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यं, तत्प्रधानं तन्त्रं शालाक्यतन्त्रम्।'** (सु.सू १.८) शालाक्य के अन्तर्गत मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण आदि अंगों में उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा आती है। आधुनिक चिकित्सा में शालाक्य में समाविष्ट अंगों में कान, नाक गला का एक विभाग माना गया है। आंख और दन्त दोनों का अपना-अपना स्वतंत्र विभाग है।

2.4.2 वैदिक वांग्मय में शालाक्य तंत्र-

वैदिक वांग्मय में शालाक्य तंत्र की प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में चक्षुष्य तथा कर्णश्रवण समों का वर्णन है। कौशिकसूत्र (३०/ १-२) में नेत्र रोग के लिए भैषज्य विधान की चर्चा की गयी है। ऋग्वेद में अश्वनी कुमारों द्वारा शालाक्य विषयक चमत्कारों के किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है। वे अन्धे ऋजाश्व को दृष्टिदान दिये। अन्धे कण्व को दृष्टि दिये। बहरे नार्षद को श्रवण शक्ति प्रदान की। इन्द्र ने अन्धे परावृज को दृष्टिदान दिया। अश्वनी कुमारों ने युद्ध में आहत सैनिकों को स्वस्थ बनाकर पुनः संग्राम योग्य बना दिया था। इससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में सैन्यचिकित्सा विज्ञान समुन्नत था। अथर्वेद, कौशिकसूत्र, रामायण, महाभारत आदि में इसकी सामग्री प्रचूरता से देखी जाती है। शालाक्यतंत्र के द्वारा पशुचिकित्सा करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

2.4.3 सुश्रुतसंहिता-

सुश्रुतसंहिता ही शालाक्यतंत्र का प्रमुख ग्रन्थ है। सुश्रुतसंहिता के उत्तरतंत्र के अध्याय १ से १९ तक में उत्तमांग (शिर:प्रदेश) में स्थित नेत्र रोगों का, २० से २१ वें अध्याय में कर्ण रोगों का, २२ से २४ तक नासा रोगों का और २५ एवं २६ वें अध्यायों में शिरो रोगों का वर्णन किया गया है।

आचार्य सुश्रुत कृत सुश्रुतसहिंता के शारीर रचना, शरीर क्रिया, भ्रूण विज्ञान एवं प्रसूति का भी वर्णन किया गया है। शरीर के अध्ययन हेतु इस स्थान को १० अध्यायों में विभक्त किया गया है, जो निम्नलिखित है-

१. **सर्वभूतचिन्ताशारीरोपक्रम-** इस अध्याय में चराचर विश्व के सभी पदार्थों की उत्पत्ति का विशेष वर्णन किया गया है।
२. **शुक्रशोणित शुद्धिशारीरम्-** इस अध्याय में जीवोत्पत्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। शुक्र शोणित के संयोग से मनुष्य की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस अध्याय में शुद्ध शुक्र शोणित के स्वरूप का वर्णन, दोष एवं उनके निराकरण तथा गर्भाधान क्रिया का वर्णन किया गया है।
३. **गर्भावक्रान्ति शारीम्-** शुक्र शोणित संयोग के पश्चात् उसकी नौ माह तक जो मासानुमासिक वृद्धि होती है, उसका इस अध्याय में वर्णन किया गया है।
४. **गर्भव्याकरणोपक्रम शारीरम्-** इस अध्याय में गर्भ के अंगों का विस्तार से वर्णन किया गया है। व्याकरण का अर्थ विस्तार है।

५. **संख्या व्याकरण शारीरम्-** इस अध्याय अध्याय में गर्भ के अंग-प्रत्यंगों की संख्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी अध्याय में षडंग शरीर का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

६. **मर्म निर्देश शारीरम्-** इस अध्याय में मर्म स्थानों का वर्णन किया गया है। यह अध्याय आयुर्वेदीय शारीर का विशेष भाग है।

७. **सिरा वर्णन विभक्ति शारीरम्-** इस अध्याय में सिराओं का पूर्ण वर्णन किया गया है। रचना एवं क्रिया सम्बन्धी सभी प्रकार का विवरण दिया गया है, साथ ही अवेध्य सिराओं का भी वर्णन इसी अध्याय में किया गया है।

८. **शिरा व्यध विधि शारीरम्-** जिन रोगों एवं रोगी में रक्त मोक्षण की आवश्यकता होती है, उन सभी का तथा वेध विधि का भी इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

९. **धमनी व्याकरण शारीरम्-** इस अध्याय में धमनी उद्गम संख्या एवं रचना का विस्तार से वर्णन किया गया है।

१०. **गर्भिणी व्याकरण शारीरम्-** इस अध्याय में व्याकरण से व्यवस्थाकरण का अर्थ लेना चाहिए। आहार-विहार, प्रसूति इत्यादि गर्भिणी से सम्बंधित विषय की व्यवस्था जिस अध्याय में दी गयी हो, उसे गर्भिणी व्याकरण कहा जाता है।

शालाक्य सम्प्रदाय में अनेक आचार्य हुए। जिन्होंने अपनी-अपनी विशिष्ट परम्परा को आगे बढ़ाया। आचार्य सुश्रुत ने नेत्र शारीर का सूक्ष्म अध्ययन करके विभिन्न अवयवों के विकारों और उनके निवारण का उपाय बतलाया गया है। विकारों के उपाय के लिए सेक, विडालक, लेप, नेत्र पूरण, अंजन, व्रर्ति, आदि का प्रयोग किया जाता था। नेत्र रोगों को रोकने के उपाय भी बताये गये हैं। नाक, कान, कंठ, मुख आदि के रोगों के निदान और चिकित्सा का स्वतंत्र रूप से अध्ययन करना होता था। नेत्र रोगों के लिए अनेक अंजन और वर्तियाँ निकली गयी।

आधुनिक काल में कुछ शिक्षण संस्थाओं में प्राचीन 'शालाक्य' को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास हुआ है। इन संस्थाओं में शालाक्य के विशेष अध्ययन के साथ-साथ नेत्र आदि चिकित्सा एवं शस्त्रकर्म करने को ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। पटना आयुर्वेद विद्यालय के अध्यापक पं वामदेव मिश्र और उनके शिष्यों ने नेत्र रोगों की आयुर्वेदीय औषधियों द्वारा निदान किया और उसमें सफलता भी प्राप्त हुई। यदि औषधियों का सही ढंग से निर्माण हो और विभिन्न नेत्र रोगों पर उनका प्रयोग हो तो आयुर्वेदीय नेत्र चिकित्सा गौरव पूर्ण पद को प्राप्त कर सकती है।

2.4.4 शालाक्य तंत्र के ग्रन्थ-

शालाक्य तंत्र में विदेहतंत्र, निमिततंत्र, शौनकतंत्र, करालतंत्र, सात्यिकतंत्र, कांकायनतंत्र, आदि ऐसे ग्रन्थ हैं। जिनके यत्र-तत्र उद्धरण ही प्राप्त होत्र हैं।

आधुनिक काल में उपलब्ध ग्रन्थ हैं- शालाक्यतंत्र, शालाक्यविज्ञान, नेत्ररोगविज्ञान, नेत्रचिकित्सा, नेत्रचिकित्सा विज्ञान, नेत्र विज्ञान, शालाक्य शास्त्र आदि।

2.4.5 नेत्र विज्ञान का परिचय-

भारत में नेत्ररोग विज्ञान शास्त्र की प्रगति बहुत प्राचीन काल से मानी जाती है। यानी ऋग्वेद काल से शुरू हुई थी। वेदों में वर्णन प्राप्त होता है कि अश्वनी कुमार, इन्द्र, अग्नि आदि

ऋषियों ने लोगों के नेत्ररोगों को कुशलता पूर्वक ठीक किया था, इसी कारण उनकी प्रसंसा यत्र-तत्र प्राप्त होती है।

याभिः शचीर्भिर्वृशण पगवृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षसे एत वे कृशः। १-११२-८

अर्थात- हे महाबली आपने किस शक्ति के द्वारा परावृज को सहायता प्रदान की, किस शक्ति से अन्धे लोगों को दृष्टि प्रदान की, किस शक्ति के द्वारा लंगड़े लोग चलने लगे हैं।

उतो कवि पुरुभुजा युव ह कृपमाणमकृणुत्व विचक्षे। १-११६-१०

अर्थात- आपने सभी भण्डार के मालिक, कवि शूर को जो दृष्टि न होने से अत्यन्त दुख था, उसको पूर्ण दृष्टि प्रदान की है।

इसी प्रकार का वर्णन तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है। नेत्र रोगों को स्वतंत्र जानकार उनकी चिकित्सा करने वाले लोगों की प्रसंसा खूब की जाती थी।

अश्वनी कुमारों के समय में भेषज (वैद्यक) तथा शल्य चिकित्सा की बहुत तरक्की हुई थी। उससे आयुर्वेद के भिन्न-भिन्न भागों की आवश्यकता हुई और छात्र वर्ग को अलग-अलग भागों की विशेष शिक्षा देने की प्रथा की शुरुवात हुई। नेत्ररोग विज्ञान शास्त्र का यथानुक्रम वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है। उस समय इस शास्त्र का विकास अच्छी तरह से हुआ था। आचार्य सुश्रुत का समय ई०पू० ५०० से ८०० साल पूर्व माना जाता है, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। नेत्रगोलक के शरीर का अच्छा वर्णन आचार्य सुश्रुत की 'सुश्रुतसंहिता' में ही प्राप्त होता है।

2.4.6 नेत्र का स्वरूप-

नेत्र गोलक के शरीर का सुश्रुतीय वर्णन-

विद्याद् द्वयंगुल बाहुल्यं स्वांगुष्टोदर संमितम्। द्वयंगुलं सर्वतः सार्धे भिषडनयन बुद्बुदं।।८।। सुवृतं गोस्तनाकारं सर्वभूत गुणोद्भवम्।।९।।

नेत्र गोलक को नेत्र बुदबुद का नाम दिया गया है। उसका आकार गोल एवं गौ के थन जैसा होता है। इस गोल की लम्बाई दो अंगुल, चौड़ाई अंगूठे के उदर जितनी तथा उसकी परिधि का नाप ढाई अंगुल अनुमान का होता है। इसमें पाँचों पृथ्वी आदि भूतों के गुण होते हैं।

नेत्र के भाग- नेत्र में क्रम से पाँच मण्डल, छः सन्धि और छः पटल होते हैं। नेत्र में पक्ष्ममण्डल, वर्त्म मण्डल, श्वेत मण्डल (Selera), कृष्ण मण्डल (Uvea) और दृष्टि मण्डल (Retma) ये पांच मण्डल हैं। ये पाँचों मण्डल क्रमशः एक के भीतर दुसरे स्थित हैं। सबसे बाहर पक्ष्ममण्डल, उसके भीरत वर्त्ममण्डल, वर्त्म मण्डल के परे श्वेत मण्डल, श्वेत मण्डल के भीतर कृष्ण मण्डल और कृष्ण मण्डल के भीतर दृष्टि मण्डल इस क्रम से हैं। उत्तरोत्तर सबसे प्रथम दृष्टि मण्डल, उसके आगे कृष्ण मण्डल, उसके आगे शुक्ल मण्डल इत्यादि हैं।

नेत्र गोल की सन्धियाँ- नेत्र में छः सन्धियाँ इस प्रकार से हैं-

१. **पक्ष्मवर्त्मगत सन्धि-** नेत्रच्छद और उनके बालों की सन्धि।
२. **वर्त्मगत सन्धि-** नेत्रच्छद और शुक्ल मण्डल के बीच की सन्धि।
३. **शुक्ल कृष्णगत सन्धि-** शुक्ल मण्डल और कृष्ण मण्डल के बीच सन्धि।
४. **कृष्ण दृष्टि गत सन्धि-** कृष्ण मण्डल और दृष्टि मण्डल के बीच की सन्धि।
५. **कनीनकगत सन्धि-** नासिका की ओर की दोनों नेत्रच्छदों की सन्धि।
६. **अपांगगत सन्धि-** कनपटी की ओर के दोनों नेत्रच्छदों की सन्धि।

2.4.7 नेत्र रोग की उत्पत्ति सम्बन्धी मीमांसा-

शरीर में रोगों की उत्पत्ति का मुख्य कारण त्रिदोष क्रिया का संतुलित न होना है।

'दोष धातु मलं मूलं ही शरीरं।'

दोष- वात, पित्त, कफ़,

धातु- रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र,

मल- विष्टा, मूत्र, पसीना, स्त्रियों में आर्तव और दुग्ध ये दो मल अधिक हैं।

जिस मनुष्य के वातादि दोष, अग्नि रसादि धातु तथा मलक्रिया आदि समान होते हैं, उस की आत्मा, इन्द्रियां और मन प्रसन्न रहते हैं। वह मनुष्य स्वस्थ अवस्था का होता है, अर्थात उसको निरोगी समझा जाये। वात, पित और कफ ये तीनों घटक शरीर के अन्य घटकों अर्थात धातु तथा मल को दूषित करते हैं और इसी के कारण उनको दोष कहा जाता है।

वात- वात शरीर में पाँच प्रकार से होता है। प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान, इस प्रकार वात के पृथक-पृथक स्थान और कार्य के अनुसार पाँच नाम हैं। प्राण के प्रस्पन्दन से शरीर के घटकों की नैसर्गिक चलनवलन की क्रिया बराबर होती रहती है, उदान का उद्वहन इन्द्रियों को धारण करता है, समान के पुराण से आहार आदि क्रियाएँ होती हैं, व्यान के विरेक से मलमूत्र बाहर फेंके जाते हैं और अपान के धारण से शुक्रादिकों का धारण होता है। वात शरीर के सभी भागों में मिलता है और इसी कारण से शरीर की उत्पत्ति स्थिति और लय होते हैं। वात को कफ, पित, धातु तथा मल का प्रेरक माना जाता है क्योंकि ये कुछ कर नही सकते। वात सबका प्रेरक है।

पित्त- नैसर्गिक पित्त पक्वाशय के सिवा यकृत, प्लीहा, हृदय, दृष्टि और त्वचा इन पाँच स्थानों में पाया जाता है। पित्त का कार्य अग्नि के कार्य जैसा होता है। लेकिन वह प्रत्यक्ष अग्नि नहीं है। पक्वाशय में पित्त के कार्य से शरीर गया अन्न का पाचन होता है और अन्नरस, दोष, मूत्र तथा विष्ट अलग हो जाते हैं। यही कारण है कि इसको पाचक-पित्ताग्नि कहा जाता है। यकृत तथा प्लीहामे के पित्त से रक्त में रंग पैदा होता है और उसकी वृद्धि होती है और इसी वजह से इसको रंजक-पित्ताग्नि कहते हैं। हृदय में पित्त को साधक-पित्ताग्नि कहते हैं और बुद्धि तथा स्मरण शक्ति की वृद्धि करना इसका कार्य माना जाता है। **दृष्टि के पित्त को लोचन-पित्ताग्नि** कहते हैं। इसका कार्य रूप को ग्रहण करना है। त्वचा के पित्त को भाजकाग्नि कहते हैं।

पित्त का स्वरूप- पतला, दुर्गधिदार, पीला या नीला और तीक्ष्ण होता है, वह गरम होता है और आम्ल या कडवा और तीखा मालूम होता है।

पित्त के लक्षण- पाचकता रंग, ओज, तेज और मेधा यह होते हैं और इससे शरीर में गरमी पैदा होती है।

कफ या श्लेष्मा- अविकृत अर्थात नैसर्गिक कफ आमाशय के सिवा छाती, सिर, कंठ, सन्धि और जिह्वामूल में पाया जाता है। कफ का कार्य उदक कर्म होता है, अर्थात शरीर में आर्द्रात फैलाना होता है। इसी वजह से शरीर के सब घटकों की चलनादि क्रिया आसानी से होना सम्भाव्य होता है। हृदय के कफ को अवलम्भ कफ कहते हैं। जिह्वामूल के कफ को रससंज्ञक कफ कहते हैं, जिससे जिह्वा की रस की रूचि का ज्ञान होता है। मस्तक के कफ को स्नेहन कफ कहते हैं, जिससे इन्द्रियों में आर्दता पैदा होती है और उनका आर्य सरलता से होता है। सन्धि के संयोग के कफ को श्लेष्मा कफ कहते हैं।

कफ का स्वरूप- प्रकृतिस्थ या नैसर्गिक कफ का रंग सफ़ेद होता है। वह घन, चिकना, चिपचिपा और शीतल होता है।

अतिसंशोधन, अतिसंशमन, वेगधारण (अर्थात विष्टा मुत्रादि को रोकना), अपथ्यकर अन्न का सेवन या निराहार, मनस्ताप, अतिव्यायाम और अति मैथुन से दोष, धातु और मल क्षीण होते हैं तथा रोगों की उत्पत्ति होती है। कुपित हुए दोष शिराओं के द्वारा नेत्र में फ़ैल जाते हैं जिससे नेत्र की विकृति पैदा होती है। दूषित श्लेष्मा नेत्र में घुस जाने से श्लेष्मिक लिंग नाश अर्थात मोतीबिंदु पैदा होता है और कुछ दिखाई नहीं देता।

नेत्रों में वायु से दस रोग उत्पन्न होते हैं, तथा पित्त से भी दस होते हैं, कफ से तेरह रोग तथा रुचिर से सोलह रोग होते हैं और सात्रिपातिक स्वरूप के पच्चीस रोग होते हैं और दो रोग बाह्य हैं, ऐसे सब मिलाकर नेत्रों में छिहत्तर रोग होते हैं।

2.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई में आपने शल्यतंत्र (सर्जरी) एवं शालाक्य-तंत्र नेत्र-विज्ञान इत्यादि का भली-भांति अध्ययन किया। आपमें जाना कि आयुर्वेद के आठ अंगों में शल्यतंत्र सबसे प्रधान तंत्र माना गया है। शल्य शब्द का मूल "शल् हिंसायाम" है। अर्थात जो शरीर में हिंसा करता है। उसे शल्य कहते हैं। 'शल्य हिंसायाम् धातुः तस्य शल्यमितिरूपम्' (सु०श्रू० २६/३) आचार्य सुश्रुत कहते हैं- शीघ्रता पूर्वक आकार जो शरीर और मन को दुःख पहुचता है, उसे शल्य कहते हैं। 'शल्यं नाम विविधतृण काष्ठापाषाणपांशुलोहलोष्टास्थित बाल नख पूयास्रावदुष्ट वर्णान्तर्गर्भ शल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्र क्षाराग्नि प्रणिधान व्रणविनिश्चायार्थञ्च। (सु० सू० १/९) अर्थात जिस शास्त्र में विविध प्रकार के तृण (घास), लकड़ी, पत्थर, धुली के लोहा, मिट्टी, हड्डी, केश, नाख़ून, पूय (मवाद Pus), स्राव (Discharge), दूषित व्रण, अन्त: शल्य तथा गर्भ (मातृगर्भ) शल्य आदि को निकालने का ज्ञान, तथा यंत्रों एवं शस्त्रों के प्रयोग एवं व्रणों के निदान तथा उसकी चिकित्सा आदि का समावेश शल्यतंत्र के अन्तर्गत किया जाता है।

शालाक्य-तंत्र- गले के ऊपर के अंगों की चिकित्सा में बहुधा शलाका सदृश यंत्रों एवं शस्त्रों का प्रयोग होने से इसे शालाक्य कहते हैं। 'शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यं, तत्प्रधानं तन्त्रं शालाक्यतन्त्रम्।' (सु.सू १.८) शालाक्य के अन्तर्गत मुख, नासिका, नेत्र, कर्ण आदि अंगों में उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा आती है। आधुनिक चिकित्सा में शालाक्य में समाविष्ट अंगों में कान, नाक गला का एक विभाग माना गया है।

नेत्ररोग विज्ञान- भारत में नेत्ररोग विज्ञान शास्त्र की प्रगति बहुत प्राचीन काल से मानी जाती है। यानी ऋग्वेद काल से शुरू हुई थी। वेदों में वर्णन प्राप्त होता है कि अश्वनी कुमार, इन्द्र, अग्नि आदि ऋषियों ने लोगों के नेत्ररोगों को कुशलता पूर्वक ठीक किया था, इसी कारण उनकी प्रसंसा यत्र-तत्र प्राप्त होती है।

2.6 पारिभाषिक शब्दावली

- व्रण - **घाव, फोड़ा या अल्सर**
- निदान - कारण
- व्याधियां - रोग, बीमारियाँ
- पूय - पीप
- शलाका - सलाई

- सान्निपात - उतरना, गिरना
- सदृश - समान
- अतिसंशोधन - अच्छे से सुधार करना
- कुपित - क्रोद्ध करना
- आर्दता - जल वाष्प

अभ्यास प्रश्न-

1. आयुर्वेद के कितने अंग हैं?
2. शल्यतंत्र का प्रारम्भ कब से माना जाता है?
3. वेदों की कितनी संख्या है?
4. कटे सिर को पुनः जोड़ने वाली विद्या का क्या नाम है?
5. शल्यतंत्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ कौन सा है?
6. शालाक्यतंत्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ कौन सा है?
7. आचार्य सुश्रुत का समय कब से कब तक माना जाता है?
8. त्रिदोष कौन-कौन से हैं?
9. वात दोष शरीर में कितने प्रकार से होते हैं?
10. नेत्र में पित्त से होने वाले दोषों की संख्या कितनी है?
11. नेत्र में कफ से होने वाले दोषों की संख्या कितनी है?
12. 'शल्यप्रदीपिका:' ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं?
13. 'सौश्रुति' ग्रन्थ के रचयिता कौन हैं?
14. जल द्वारा व्रण चिकित्सा का वर्णन किस ग्रन्थ में मिलता है?
15. नेत्र रोग विज्ञान का प्रारम्भ कब से माना जाता है?

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. आठ
2. प्रागैतिहासिक युग से
3. चार
4. प्रग्वर्यविद्या
5. सुश्रुत संहिता
6. सुश्रुत संहिता को
7. 500 से 600 ई०पूर्व
8. वात, पित्त और कफ
9. पाँच
10. दस
11. तेरह
12. मुकुन्दस्वरूप
13. रमानाथ द्विवेदी
14. शतपथ ब्राह्मण में

15. वैदिक काल से

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7. संस्कृत-वांग्मय का बृहद् इतिहास (सप्तदश-खण्ड आयुर्वेद का इतिहास), प्रधान सम्पादक स्व० पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, प्रो. श्रीनिवास रथ, सम्पादक डॉ रमानाथ द्विवेदी, प्रो. रविदत्त त्रिपाठी, प्रकाशक- प्रमोदकुमारपाण्डेय, निदेशक, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (पृष्ट संख्या २०१, २०२, २०४, २०५, २०७, २०९, २१०, २११ इत्यादि)
8. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त, (पृष्ट संख्या ७१, ७२, ७३, ७४, ७५)
9. आधूनिक हिंदी, नेत्ररोगविज्ञान शास्त्र (प्रथम भाग), लेखक डॉ दि. घो. साठ्ये, एफ, आर. एफ. पी. एस. (ग्लास्गो), प्रकाशक- डॉ व्ही. डी. साठ्ये, इन्डियन जनरल आफ आफथालमालाजी ५०२, नारायण पेठ, पूना शहर (पृष्ट संख्या २, ३, ४, ५, ६, ७, ८)
10. नेत्र चिकित्सा, लेखक डॉ के एम० अग्रवाल नेत्र-विशेषज्ञ, प्रकाशक- कुमार पब्लिशर्स २८ ऐबट रोड़, लखनऊ
11. आयुर्वेद का इतिहास एवं परिचय
12. अष्टांगहृदयम्, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़ पो. बा. नं. २११३, दिल्ली ११०००७
13. सुश्रुतसंहिता (उत्तरतन्त्र), व्याख्याकार डॉ अम्बिकादत्तशास्त्री, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शल्यतंत्र (सर्जरी) का परिचय विस्तार से दीजिए।
2. शालाक्यतंत्र की विवेचना कीजिए।
3. नेत्र विज्ञान का परिचय विस्तार से दीजिए।
4. नेत्ररोग उत्पत्ति के कारणों की विवेचना कीजिए।

इकाई-3 भूत विद्या (मनोरोग चिकित्सा) एवं अगद-तंत्र (विष विज्ञान)

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3. भूतविद्या का अर्थ एवं स्वरूप
    3.3.1 भूतविद्या का अर्थ
    3.3.2 भूतविद्या की परिभाषा
    3.3.3 भूतविद्या का स्वरूप
    3.3.4 भूतविद्या की विशेषता
    3.3.5 भूत विद्या के सामान्य कारण
    3.3.6 भूतोन्माद के विशिष्ट लक्षण
    3.3.7 भूतविद्या के प्रमुख ग्रन्थ
    3.3.8 मन व मनोवृति
    3.3.9 मनोविकार
3.4 अगदतंत्र का अर्थ एवं स्वरूप
    3.4.1 अगदतंत्र का अर्थ
    3.4.2 अगदतंत्र का स्वरूप
    3.4.3 अगदतंत्र के प्रमुख ग्रन्थ
    3.4.5 विष विज्ञान का परिचय
3.5 सारांश
3.6 पारिभाषिक शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई **'भूत विद्या एवं अगद-तंत्र'** से सम्बन्धित है। भूतविद्या के अन्तर्गत देवता, पिशाच, पितृ तथा ग्रहों द्वारा उत्पन्न हुए विकारों और उसकी चिकित्सा का वर्णन है। रोगों को दूर करने के लिए पूजादि कर्म के द्वारा रोग शान्ति की चिकित्सा **'भूतविद्या'** या **भूतचिकित्सा** कही जाती है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार भूतोन्माद, अमानुषोपसर्ग तथा बालग्रहों का आयुर्वेद में विशद् वर्णन है। ये सभी रोग तथा मानसरोग आदि भूतविद्या के अन्तर्गत हैं। भूतविद्या का मूल स्रोत अथर्ववेदीय अथर्वांगिरस कृत्य है। उस काल में आयुर्वेद का यह अंग प्रबल था, परन्तु चरक के काल में यद्यपि युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा व्यवस्थिति हुई तथापि दैवत्यपाश्रय उपक्रम भी समानान्तर चलते रहे भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, इनका रोगों की उत्पत्ति में अदृष्ट कारणत्व माना जाता था। विशेषतः मानस रोगों की उत्पत्ति में इनकी कारणता प्रमुख थी। अतः सहिंताओं में भूतविद्या के प्रसंग में इना रोगों का वर्णन है। भूतविद्या एक रहस्यात्मक विद्या है, सम्पूर्ण विश्व में इसकी सत्यता के उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसा प्रायः सभी जानते हैं कि आयुर्वेद सभी प्रकार के ज्ञान का भण्डार है। आर्त्त जनों की पीड़ा को दूर करना आयुर्वेद का प्रधान लक्ष्य है। वैसे तो सभी रोगों का मूल कारण वात-पित्त-कफ होते हैं, परन्तु भूतविद्या सम्बन्धी रोगों में प्रमुख कारण अदृष्ट होते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र के अन्य अंगों की ही भांति अगदतंत्र भी एक महत्वपूर्ण अंग है। इस सम्बन्ध में विष और निर्विषीकरण के विचार अथर्ववेद में उपलब्ध है। अगदतंत्र को अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न संज्ञा दी गई है जैसे- आचार्य चरक ने विषगरवैरोधिकप्रशमन, अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह में 'दंष्ट्राचिकित्सा' आदि। सर्प, कीट, लूता आदि से डँसे हुए, विभिन्न प्रकार के स्वभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रष्त मानवों की चिकित्सा करने वाले अंग को अगदतंत्र या विषतंत्र कहते हैं। आपको भूत विद्या एवं अगद-तंत्र से अवगत करवाना प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

3.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों! प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- ❖ भूतविद्या का अर्थ एवं स्वरूप को जानेंगे।
- ❖ भूतविद्या की विशेषता को जानेंगे।
- ❖ भूत विद्या के सामान्य कारण को जानेंगे।
- ❖ भूतोन्माद के विशिष्ट लक्षण को जानेंगे।
- ❖ भूतविद्या के प्रमुख ग्रन्थों के बारे में जानेंगे।
- ❖ अगदतंत्र का अर्थ एवं स्वरूप को जानेंगे।
- ❖ विष विज्ञान के बारे में जानेंगे।
- ❖ अगदतंत्र के प्रमुख ग्रन्थों के बारे में जानेंगे।

3.3. भूतविद्या का अर्थ एवं स्वरूप

3.3.1 भूतविद्या का अर्थ-

"भू" धातु से "क्त" प्रत्यय होकर भूत शब्द बनता है। शब्दकोषों के अनुसार भूत शब्द के अर्थ हैं- सृष्ट पदार्थ, न्याय उचित, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (पंच महाभूत) सत्य, यथार्थ, वास्तविक, भूतकाल, अतीत, गत, स्वरूप, वस्तुतत्त्व, देवयोनि विशेष और प्राणी।

विद्या ज्ञानार्थक "विद्"धातु से "क्यप्" होने पर विद्या शब्द बनता है। विद्या ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। विद्या का अर्थ है- ज्ञान, तत्त्व साक्षात्कार। विद्या शक्ति है, मुक्तिदायिनी है, चैतन्य स्वरुपा है, देशकाल की सीमा में अनाबद्ध ज्ञान राशि है, सनातनी है, सर्वज्ञ है और समस्त शक्तियों की शक्ति है।

दश महाविद्या- काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, च्छिन्नमस्ता, धूमावती, मातंगी, सिद्धविद्या और बगलामुखी, ये दश महाविद्याएँ कही गयी हैं।

3.3.2 भूतविद्या की परिभाषा-

भूतविद्या के अन्तर्गत देवता, पिशाच, पितृ तथा ग्रहों द्वारा उत्पन्न हुए विकारों और उसकी चिकित्सा का वर्णन है। रोगों को दूर करने के लिए पूजादि कर्म के द्वारा रोग शान्ति की चिकित्सा '**भूतविद्या**' या **भूतचिकित्सा** कही जाती है।

भूतविद्यानाम् देवासुरगान्धर्वयक्षरक्षः पितृपिशाचानागग्रहद्युपसृष्ट- चेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम्।। (सु.सू १/४)

आचार्य सुश्रुत के अनुसार भूतोन्माद, अमानुषोपसर्ग तथा बालग्रहों का आयुर्वेद में विशद् वर्णन है। ये सभी रोग तथा मानसरोग आदि भूतविद्या के अन्तर्गत हैं।

अथर्ववेद भूतविद्या से सम्बन्धित विषयों से भरपूर है ऋषि, देवता, गुरु, भूतप्रेत, पिशाच, राक्षस, रेवती आदि ग्रहों को तिरस्कृत करने पर उन्माद, अपस्मार आदि मानसरोग और अनेक शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इन रोगों की मुक्ति के लिए देवता, राक्षस या ग्रह आदि के अनुरूप पूजा, होम एवं जाप आदि करने का विधान है।

3.3.3 भूतविद्या का स्वरूप-

आयुर्वेद शास्त्र में रोगों की दो प्रकार की प्रकृति बतलायी गयी है। पहली प्रक्रति के अन्तर्गत कुछ रोग वात, पित्त और कफ के प्रकोप से होते हैं। दूसरी रज तथा तम, इन दो मानस दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों प्रकार के रोग निज रोग कहे जाते हैं। इन दोनों रोगों के अतरिक्त कुछ अन्य रोग ऐसे होते हैं, जिनमें निश्चय रूप से दोष-दूष्य-हेतु-पूर्वरूप-रूप-उपशय और सम्प्राप्ति का विवेचन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के रोगों को **आगन्तुक** कहा जाता है। आगन्तुक रोगाक्रान्त रोगियों में कुछ विस्मयजनक लक्षण परिलक्षित होते हैं, रोगी के कार्यकलाप, आकृति, गति, चेष्टा, वाणी और ज्ञान में अद्भुत परिवर्तन देखा जाता है। उसका शील स्वभाव विपरीत हो जाता है। उसका आहार-विहार, संलाप वैचित्र्य और विविधापूर्ण होता है। अमद्यप और शाकाहारी व्यक्ति, मद्य-मांस भोजी बना जाता है अथवा मद्यप तथा मांसादि व्यक्ति, अमद्यप और शाकाहारी हो जाता है। उसकी इच्छाएं बदल जाती हैं, उसकी प्रज्ञा, पराक्रम, पौरुष, ज्ञान, बल और चेष्टाओं का प्रस्फुरण और उत्कर्ष मानवीय सीमा को आतिक्रान्त कर जाता है। उसकी आश्चर्य और चमत्कारपूर्ण गतिविधियों को देख कर घोर नास्तिक व्यक्ति भी यह मानने को विवश हो जाता है कि यह व्यक्ति किसी व्यन्तर देव (भूत-प्रेत-पिशाच-यक्ष-राक्षस आदि) द्वारा अभिनिविष्ट है। आक्रान्त व्यक्ति की समस्त चेष्टाएँ, समाविष्ट भूत द्वारा परिचालित होती प्रतीत होती हैं। इस तरह के कलह, कोलाहल, कौतूहल, हो-हल्ला और संघर्ष से पूर्ण तथा

नृत्य, गीत, हास्य, रोदन एवं भाग-दौड की जिंदगी जीने वाले रोगी का अध्ययन, निदान उपचार जिस चिकित्सा व्यवस्था में किया जाता है, उसे **भूतविद्या** कहते हैं। यह आयुर्वेद का अन्यतम अंग है। भूतविद्या से सम्बद्ध रोगों में स्वतन्त्र रूप से रोगों के निदान आदि का आकलन किया जाता है। इन रोगों के विशिष्ट लक्षणों को देखकर उनके उद्भावक कारणों में, देव-असुर-गन्धर्व-पितर-पिशाच-यक्ष-राक्षस-डाकनी-शाकिनी आदि के अभिनिदेश का कारण माना गया है। आयुर्वेदीय संहिताओं में, शल्यतन्त्र, कौभारभृत्य, सूतिका के प्रसंग में तथा शून्यागार, वधागार, चैत्य, श्मशान आदि के निवासियों में राक्षस, पिशाच आदि के आक्रमण की बात कही गयी है। इस से उत्पन्न विकारों के सम्यग्ज्ञान विनिश्चय और उपचार के लिए **भूतविद्या** को आयुर्वेद के अंग के रूप में माना जाता है।

3.3.4 भूतविद्या की विशेषता-

भूतविद्या एक रहस्यात्मक विद्या है, सम्पूर्ण विश्व में इसकी सत्यता के उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसा कि प्रायः सभी जानते हैं कि आयुर्वेद सभी प्रकार के ज्ञान का भण्डार है। आर्त्त जनों की पीड़ा को दूर करना आयुर्वेद का प्रधान लक्ष्य प्रारम्भ से ही है। वैसे तो सभी रोगों का मूल कारण वात-पित्त-कफ होते हैं, परन्तु भूतविद्या सम्बन्धी रोगों में प्रमुख कारण अदृष्ट होते हैं।

'काश्यपसंहिता' के रेवतीकल्प में भूतविद्या का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। मनुष्य जब अपने उदात कर्त्तव्यों के प्रति प्रमाद दिखाता है अथवा विमुख होकर अनाचार और दुराचार के मार्ग पर चलता है, तब उसको ग्रह पकड़ते हैं और उसकी धर्म के मार्ग पर चलना मजबूरी हो जाती है। उसे जीवन धारण करने की क्षमता धर्म ही देता है। अपने अध्यात्म ज्ञान से आयुर्वेद के त्रिकालदर्शी महर्षियों ने यह जान लिया कि जब मनुष्य का मन सत्त्वगुण को त्यागकर रज और तमों गुणों में लिप्त होता है तब वह धर्म के मार्ग को छोड़ देता है। वह अधर्म के आर्ग पर चलता है। अधर्म का आचरण करने से प्रकृति में विपरीत स्थिति आ जाती है, ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। वायु, जल, देश और काल अपने स्वभाविक गुण का त्याग कर देते हैं। फिर परिणाम यह होता है कि खेती में भी समुचित गुणों का आधान नहीं हो पाता। मनुष्य को भी जीवन यापन करना मुश्किल हो जाता है। जीवन में जब अन्न-धन आदि की कमी होती है तो सम्पन्न लोग संचय करने लगते हैं। अभावग्रस्त लोगों के मन में उस संचित अन्न धनादि के प्रति इर्ष्या, द्वेष, उत्पन्न होने लगता है और वे घटन का जीवन जीने लगते हैं। काम, क्रोध, असूया और मत्सर के कारण विवेक क्षमता नष्ट हो जाती है। मनुष्य मोह, मद, प्रज्ञापराध और मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त होकर मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

आयुर्वेद के आचार्यों ने 'भूतविद्या' को मानस विकार माना है। आयुर्वेद में भूतविद्या में जहाँ देवता पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि से आक्रान्त व्यक्ति को मुक्त करने के लिए शान्तिकर्म और होमादि का विधान है। इस विधान से माना को स्थिर, शान्त, निर्भय और निर्विकार बनाने के लिए ज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि, पवित्रता, संतोष और ईश्वर की आराधना का विधान बताया गया है। जब मन सात्विक अभिलाषाओं से परिपूर्ण बन जाता है तब उसमें सद्विचारों का प्रवेश होता है।

भूतविद्या का प्रधान विषय है- मन की स्थिति का पूर्ण अध्ययन करके मन के विकारों को दूर करने का मार्ग बताकर मन से नकारात्मक विचारों को दूर करना।

3.3.5 भूत विद्या के सामान्य कारण-

१. मुख्य रूप से रज और तम, ये मानव दोष और उनके विकार काम, क्रोद्ध, भय, लोभ, ईर्षा, शोक, चिन्ता आदि तथा राजस एवं तामस प्रकृतियाँ मूल कारण हैं।

२. देव, असुर, गन्धर्व आदि।

३. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिमाण।

४. हिनसत्त्वता।

५. चित्तवृति का अनियंत्रण।

६. आहार-विहार-आचार की अशुचिता।

७. परिग्रह-काम-क्रोध-अहंकार आदि मानसभाव।

८. सुखात्मक या दुखात्मक भावना का अतिरेक।

९. मन की अव्यवस्थितता।

१०. आनुवंशिकता।

११. वातावरण।

१२. प्रेम में असफल होना।

१३. अत्यधिक संवेदनशीलता

१४. प्रसवकाल।

१५. अन्तः स्रायी ग्रन्थियों की विकृति।

१६. सामाजिक और सांस्कृतिक आचार एवं परम्परा के निर्वाह की अक्षमता।

१७. व्यक्तिगत कारण जैसे- स्त्रियों में युवावस्था में विवाह न होना, पति का अस्नेह आदि, पारिवारिक कलह आदि, शरीर या मन का अभिघात आदि।

१८. शारीरिक रोग भूतविद्या सम्बन्धी रोगों को जन्म देते हैं।

3.3.6 भूतोन्माद के विशिष्ट लक्षण-

(१) देवजुष्ट, पराक्रम-वाणी-चेष्टा-ज्ञान-पवित्रता आदि की दृष्टि से मनवोत्तर आचरण करता है, तेजस्वी एवं वरदाता होता है। (२) असुरजुष्ट, असन्तुष्ट, सर्वत्र, दोषदर्शी, नास्तिक और दुष्ट स्वभाव का होता है। (३) गन्धर्वजुष्ट, प्रहष्ट, शोभन आचारशील, संगीत-गन्ध-माल्यप्रिय होता है। (४) यक्षजुष्ट, रक्तनेत्र, रक्तवस्त्रधारी, तेजस्वी और वरप्रदाता होता है। (५) पितृजुष्ट, शान्त, मांस, तिल-गुड़ या खीर पसन्द करने वाला होता है। (६) नागजुष्ट, भूमि पर सर्पवत रेंगता है, महाक्रोधी और गुड़-मधु या पायस चाहता है। (७) राक्षसजुष्ट, मांसाभिलाषी, निष्ठुर, क्रोधी, बलशाली और निशा भ्रमणशील होता है। (८) पिशाचजुष्ट, अतिचपल, बहुमोक्ता, उद्विग्न, निर्जनप्रिय, और निशा विहारी होता है।

3.3.7 भूतविद्या के प्रमुख ग्रन्थ-

भूतविद्या का कतिपय ग्रन्थों में संकेत प्राप्त होता है। यथा- चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टांगहृदय, माधवनिदान, मानसरोग विज्ञान आदि।

3.3.8 मन व मनोवृति-

पुराणों में मन व मन से सम्बन्धित विषयों का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। लोक वृत्ति से सम्बन्ध रखने के कारण पुराणों में मानसिक पक्ष का सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है।

विष्णु पुराण में मन को ही बन्धन व मोक्ष का कारण माना गया है-

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यैर्निर्विषयं मनः।।

श्रीमद्भागवत महापुराण में कहा गया है कि मन द्वारा ही जीवन के समस्त क्रिया कलाप सम्पादित होते हैं तथा कहा गया है कि जिस काल तक प्राणियों में मन क्रियाशील रहता है तब तक उसके व्यवहार प्रकट होते हैं तथा जब यह मन गुणातीत होता है तो मोक्ष की प्राप्ति होती है। विषयासक्त मन इस संसार में पुनः आता है तथा विषय हीन मन मोक्ष प्राप्त करता है।

मन के स्वरूप के बारे में कहा गया है कि- जिस प्रकार जल स्वभावतः बुदबुद व आवर्तादि रहित शान्त व विकार शून्य होता है उसी प्रकार स्वाभाविक मन स्वच्छ, विकार रहित, शान्त व वृत्ति रहित होता है-

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिऽर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिपराः।। (भा.पु. ३/२६/२२)

मन की एकादश वृत्तियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा अहंकार कहा गया है तथा पंच तन्मात्रा को मन आधारभूत विषय कहा गया है। (भा.पु,१०/११/९) विष्णुपुराण में अहंकार को अविद्या कहा गया है। पुराणों में मनोविज्ञान से सम्बन्धित तथ्यों का उल्लेख विस्तृत रूप से वर्णित है।

3.3.9 मनोविकार-

आयुर्वेद की भांति ही पुराणों में मनोविकार का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आयुर्वेद में मनोचिकित्सा के सन्दर्भ में पुराण की उपयोगिता दर्शायी गयी है। विभिन्न पुराणों की उपयोगिता तद्काल में सामूहिक मनोचिकित्सा के रूपा में भी होती रही है, अतः स्वभावतः मनोविकार व मनोचिकित्सा का व्यवहारिक स्वरूप पुराणों में उपलब्ध है। विष्णुपुराण १/१७/६५ में मन में दुःखोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवत महापुराण में मनोविकार प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति किसी विषय के चिंतन में संलग्न हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियाँ विषय में अनुबन्धित हो जाती हैं। जिस प्रकार जलाशय आश्रित तृणादि जलाशय के जल का ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियार्थों द्वारा क्रमशः मन, बुद्धि व विचार शक्ति का नाश हो जाता है। बुद्धि विचार शक्ति के नाश होने पर पूर्व की स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश हो जाता है। (भाग.पु.४/२२/३१)

3.4 अगदतंत्र का अर्थ एवं स्वरूप

3.4.1 अगदतंत्र का अर्थ-

आयुर्वेद शास्त्र के अन्य अंगों की ही भांति अगदतंत्र भी एक महत्वपूर्ण अंग है। इस सम्बन्ध में विष और निर्विषीकरण के विचार अथर्ववेद में उपलब्ध है। अगदतंत्र को अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न संज्ञा दी गई है जैसे- आचार्य चरक ने विषगरवैरोधिकप्रशमन, अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह में 'दंष्ट्राचिकित्सा' आदि।

'अगदतन्त्रं नाम-सर्पकीटलूतमूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविध-विषसंयोगोपशमनार्थं च'। (सु०सू० १/६)

सर्प, कीट, लूता आदि से डँसे हुए, विभिन्न प्रकार के स्वभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रष्त मानवों की चिकित्सा करने वाले अंग को अगदतंत्र या विषतंत्र कहते हैं।

3.4.2 अगदतंत्र का स्वरूप-

अथर्वेद में मन्त्र चिकित्सा द्वारा नस-नाडियों में पहुँचे हुए विषय को दूर करने का वर्णन मिलता है। इसमें विषनाशक औषधियों के भी उद्धरण प्राप्त होते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में परिगणित विद्याओं में विषविद्या का उल्लेख मिलता है। कौशिकसूत्र में विषभैषज्य का वर्णन मिलता है। महाभारत, ब्रह्मवैवर्त पुराण में तद्युगीन विषवैद्यक की स्थिति का ज्ञान होता है। चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं में भी जांगम तथा स्थावर विषों के लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। सुश्रुत ने स्थावर एवं जांगम विषों का वर्गीकरण विस्तार से किया है। विष की आशुकारिता को देखकर इसका उपयोग चिकित्सा कार्य में भी होने लगा है।

आचार्य वाग्भट्ट जी ने सर्वप्रथम अपनी कृति 'अष्टांग संग्रह' में विषोपयोगी अध्याय में इसका प्रारम्भ किया है। मुख्यतः जांगम विष की चिकित्सा में मन्त्र और औषध दोनों का प्रयोग होता था। अष्टांगहृदय का कथन है कि विष तीन प्रकार के होते हैं। फल-फूल आदि कन्दों में होने वाला विष स्थावर विष है। दूसरा कालकूट, हलाहल आदि। सर्प, बिच्छु मकड़ी आदि की दाढ़ों में रहने वाला विषय जंगम विष है। अष्टांगहृदय में कहा गया है कि विषों में और विष की सभी अवस्थाओं में घी (गाय का घी) के समान लाभकारी कोई औषधि नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि विष का प्रभाव होने पर अधिक से अधिक गाय का घी उस रोगी को पिलाया जाय। घी विष के प्रभाव को शान्त कर देता है।

अगदतंत्र आयुर्वेद का अत्याधिक विशद् अङ्ग है। इस पर अध्ययन और अनुसन्धान हुए हैं, जहाँ प्राणी जगत है वहाँ विष चिकित्सकों की आवश्यकता और महत्व बना हुआ है। अचानक अग्निदाह, विष खा लेने, फांसी लगा लेने, जल में डूबने, गला दबाने आदि की समीक्षा न्यायिक रूप से की जाती है यह न्यायवैद्यक या व्यवहार आयुर्वेद नामक उपांग अगदतंत्र से जुड़ गया है। अल्पमृतक की परीक्षा की जाती है। कानून के विभिन्न पहलुओं से उसकी जाँच की जाती है।

3.4.3 अगदतंत्र के प्रमुख ग्रन्थ-

अगदतंत्र के अतिपय प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार से हैं- काश्यपसंहिता, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अगदतंत्र, विषचिकित्सा, विष-विज्ञान और व्यवहारायुर्वेद एवं विष विज्ञान आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन प्राप्त होता है।

3.4.5 विष विज्ञान का परिचय-

चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने अपनी संहिताओं में जंगम एवं स्थावर विषों के लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन किया है। विष प्राण का हरण करता है। प्राचीनकाल से ही राजाओं और सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन हमेशा खतरे में रहता है। उनके शत्रु विष प्रयोग द्वारा उनकी हत्या करने की ताक में रहते हैं। अतः अनेक प्रकार से विष प्रयोग करने के माध्यमों और विष निवारण के उपाय बतलाये गये हैं। आचार्य सुश्रुत ने स्थावर एवं जंगम विषों का वर्गीकरण विस्तार से किया है।

पुराणों में भी विष विज्ञान से सम्बन्धित तथ्यों का भी विशद् वर्णन है। अग्नि पुराण में सर्प एवं सर्प विष से सम्बन्धित दो स्वतंत्र अध्याय वर्णित है। विष्णु पुराण में रसोइयों द्वारा प्रहलाद के हलाहल विष देने का वर्णन किया गया है। (वि.पु. १/६६/१५५) अग्नि पुराण में स्वतंत्र रूप से चार अध्याय २९५ से २९८ तक में विष चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है।

3.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि "भू" धातु से "क्त" प्रत्यय होकर भूत शब्द बनता है। शब्दकोषों के अनुसार भूत शब्द के अर्थ हैं- सृष्ट पदार्थ, न्याय उचित, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (पंच महाभूत) सत्य, यथार्थ, वास्तविक, भूतकाल, अतीत, गत, स्वरूप, वस्तुतत्त्व, देवयोनि विशेष और प्राणी।

विद्या ज्ञानार्थक "विद्"धातु से "क्यप्" होने पर विद्या शब्द बनता है। विद्या ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। विद्या का अर्थ है- ज्ञान, तत्त्व साक्षात्कार। विद्या शक्ति है, मुक्तिदायिनी है, चैतन्य स्वरुपा है, देशकाल की सीमा में अनाबद्ध ज्ञान राशि है, सनातनी है, सर्वज्ञ है और समस्त शक्तियों की शक्ति है।

भूतविद्या के अन्तर्गत देवता, पिशाच, पितृ तथा ग्रहों द्वारा उत्पन्न हुए विकारों और उसकी चिकित्सा का वर्णन है। रोगों को दूर करने के लिए पूजादि कर्म के द्वारा रोग शान्ति की चिकित्सा '**भूतविद्या**' या **भूतचिकित्सा** कही जाती है।

आचार्य चरक ने विषगरवैरोधिकप्रशमन, अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह में 'दंष्ट्राचिकित्सा' आदि। सर्प, कीट, लूता आदि से डँसे हुए, विभिन्न प्रकार के स्वभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रष्त मानवों की चिकित्सा करने वाले अंग को अगदतंत्र या विषतंत्र कहते हैं। चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने अपनी संहिताओं में जांगम एवं स्थावर विषों के लक्षणों तथा चिकित्सा का वर्णन है। विष प्राण का हरण करता है। प्राचीनकाल से ही राजाओं और सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन हमेशा खतरे में रहता है। उनके शत्रु विष प्रयोग द्वारा उनकी हत्या करने की ताक में रहते हैं। अतः अनेक प्रकार से विष प्रयोग करने के माध्यमों और विष निवारण के उपाय बतलाये गये हैं। आचार्य सुश्रुत ने स्थावर एवं जांगम विषों का वर्गीकरण विस्तार से किया है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

- स्थावर - स्थायी, स्थिर
- अनाबद्ध - असीमित, मुक्त
- सांगोपांग - अच्छी तरह, अंगों उपांगों सहित
- अन्तर्गत - सम्मिलित, भीतरी
- कीट - कीड़ा
- निवारण - रोकना, हटाना, दूर करना
- कृत्रिम - बनावटी
- समीक्षा - परीक्षण, गुण दोष विवेचन
- उद्विग्न - चिंतित, परेशान

अभ्यास प्रश्न-

१. भूतविद्या से भरपूर कौन सा वेद है?
२. आयुर्वेद शास्त्र में रोगों की कितनी प्रकृति बतलायी गयी हैं?
३. आयुर्वेद के आचार्यों ने मानस विकार किसे माना है?
४. 'अष्टांगहृदय' के प्रणेता कौन हैं?

५. 'अष्टांगहृदय' में विष को कितने भागों में विभक्त किया ज्ञान है?
६. सर्प एवं सर्प विष से सम्बन्धित दो स्वतंत्र अध्याय किस पुराण में वर्णित हैं?
७. 'भूत' शब्द में कौन सी धातु है?
८. विष्णु पुराण में अहंकार किसे कहा गया है?
९. ज्ञानेन्द्रियाँ कितनी हैं?
१०. मन की कितनी वृत्तियाँ हैं?
११. तन्मात्राओं की कितनी संख्या हैं?
१२. "मन की स्थिति का पूर्ण अध्ययन करके मन के विकारों को दूर करने का मार्ग बताकर मन से नकारात्मक विचारों को दूर करना" किसका प्रधान विषय है?
१३. 'सुश्रुत संहिता' के प्रणेता कौन हैं?
१४. 'चरक सहिंता' के प्रणेता कौन हैं?
१५. 'विद्या' शब्द में कौन सी धातु है?

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. अथर्ववेद
२. दो
३. भूतविद्या को
४. आचार्य वाग्भट्ट
५. तीन
६. अग्नि पुराण
७. 'भू' धातु
८. अविद्या को
९. पाँच
१०. एकादश
११. पाँच
१२. भूतविद्या का
१३. आचार्य सुश्रुत
१४. आचार्य चरक
१५. 'विद्' धातु

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14. संस्कृत-वांग्मय का बृहद् इतिहास (सप्तदश-खण्ड आयुर्वेद का इतिहास), प्रधान सम्पादक स्व० पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, प्रो. श्रीनिवास रथ, सम्पादक डॉ रमानाथ द्विवेदी, प्रो. रविदत्त त्रिपाठी, प्रकाशक- प्रमोदकुमारपाण्डेय, निदेशक, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (पृष्ट संख्या १६०, १६१, ३७९, ५६९, ५७९, इत्यादि)
15. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त, (पृष्ट संख्या ७९, ८०, ८१, ८२, ८३)
16. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, लेखक आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी, (पृष्ट संख्या ५२५, ५२६, ५२८)

17. अष्टांगहृदयम्, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़ पो. बा. नं. २११३, दिल्ली ११०००७
18. सुश्रुतसंहिता (उत्तरतन्त्र), व्याख्याकार डॉ अम्बिकादत्तशास्त्री, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

१. भूतविद्या का अर्थ एवं स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए?
२. अगदतंत्र का अर्थ एवं स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए?
३. भूतविद्या की विशेषताओं का वर्णन कीजिए?
४. विष विज्ञान का सामान्य परिचय दीजिए?

इकाई-4 रसायन (कायाकल्प) एवं वाजीकरण (कामोत्तेजक)

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 रसायन का अर्थ एवं स्वरूप
    4.3.1 रसायन का अर्थ एवं स्वरूप
    4.3.2 रसशास्त्र की विशेषता
    4.3.3 रसायनतंत्र के ग्रन्थ
4.4 वाजीकरण का अर्थ एवं स्वरूप
    4.4.1 वाजीकरण का अर्थ एवं स्वरूप
    4.4.2 वाजीकरण की उपयोगिता
    4.4.3 वाजीकरण के प्रमुख ग्रन्थ
4.5 सारांश
4.6 पारिभाषिक शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई **'रसायन एवं वाजीकरण'** से सम्बन्धित है। जैसा की प्रायः सभी जानते हैं कि आयुर्वेद अथर्वेद का उपवेद है। काश्यप संहिता एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में इसे 'पंचमवेद' भी कहा गया है। अन्य वेद केवल परलोक हितकर हैं, जबकि आयुर्वेद दोनों लोकों के लिए हितकर है। आयुर्वेद के अन्तर्गत अष्टांग चिकित्सा की आठ शाखाओं में 'रसायन एवं वाजीकरण' अत्यंत महत्वपूर्ण शाखाएँ मानी जाती हैं, जिनका सम्बन्ध मानव के शारीरिक, मानसिक और प्रजनन स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ है।

रसायन आयुर्वेद का महत्वपूर्ण अंग है। रसायन शब्द रस और अयन के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है रस रक्तादि धातुओं से पोषण के साधन। इसे रसायन अथवा जराचिकित्सा भी कहा जाता है। अष्टाङ्गहृदय में रसायन और इसके गुण कुछ इस प्रकार से वर्णित हैं- रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, स्वर की निर्मलता, शरीर इन्द्रिय में बल, वाक्-सिद्धि, वीर्य की अधिकता और कान्ति प्राप्त करता है। जिसके द्वारा श्रेष्ठ रस-रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है।

वाजीकरण को वृषचिकित्सा भी कहते हैं। शुक्र रहित को शुक्र युक्त बनाने की विधि को वाजीकरण कहते हैं। इस चिकित्सा के माध्यम से वीर्यहीन को भी वीर्यवान बनाया जाता है। वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य अतः जिसके पास शुक्र है उसको वाजी कहते हैं। 'वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी' और जिसके पास शुक्र नहीं हैं वह अवाजी है। वाजीकरण चिकित्सा का प्रयोजन केवल संभोग सुख प्राप्त करना नहीं है, अपितु मानव के भीतर स्थित **शुक्र धातु** को सशक्त बनाना और उसकी पोषक श्रृंखला को सुदृढ़ करना भी है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में सात धातुएँ होती हैं, जो इस प्रकार से हैं- १. रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा और ७. शुक्र। इनमें शुक्र धातु सबसे सूक्ष्म और अंतिम धातु है, जो समस्त शरीर की ऊर्जा, ओज और जीवन शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। जब शुक्र धातु स्वस्थ होती है, तब व्यक्ति में बल, उत्साह, आकर्षण, प्रसन्नता और प्रजनन क्षमता स्वतः ही प्रकट होती है। आपको रसायन एवं वाजीकरण से अवगत करवाना ही प्रस्तुत इकाई का ध्येय है।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- ❖ रसायन का अर्थ एवं स्वरूप के बारे में जानेंगे।
- ❖ रसशास्त्र की विशेषता को जानेंगे।
- ❖ रसायनतंत्र के ग्रन्थ के बारे में जानेंगे।
- ❖ वाजीकरण का अर्थ एवं स्वरूप के बारे में जानेंगे।
- ❖ वाजीकरण की उपयोगिता को जानेंगे।
- ❖ वाजीकरण के प्रमुख ग्रन्थ के बारे में जानेंगे।

4.3 रसायन का अर्थ एवं स्वरूप

4.3.1 रसायन का अर्थ एवं स्वरूप-

रसायन आयुर्वेद का महत्वपूर्ण अंग है। रसायन शब्द रस और अयन के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है रस रक्तादि धातुओं से पोषण के साधन। इसे रसायन अथवा जराचिकित्सा भी कहा जाता है। दीर्घ आयु तक वृद्धावस्था आने से बचाते हुए उत्तम स्वास्थ्य, बल, पौरुष एवं एवं दीर्घायु एवं वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न हुए विकारों को दूर करने के उपाय रसायनतंत्र में प्रतिपादित हैं- **'रसायनतंत्र नाम वयः स्थापनमायुमेधाबलकरं रोगापहरण समर्थं च।'** (सु.सू.१/७)

अष्टाङ्गहृदय में रसायन और इसके गुण कुछ इस प्रकार से वर्णित हैं- रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, स्वर की निर्मलता, शरीर इन्द्रिय में बल, वाक्-सिद्धि, वीर्य की अधिकता और कान्ति प्राप्त करता है। जिसके द्वारा श्रेष्ठ रस-रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है। रसायन औषधों का केवल स्वास्थ्य वर्धन में प्रयोग नहीं होता परन्तु इसके द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। इसका प्रयोग करने से रोगप्रतिरोधकता (Resistance) या क्षमता (Immunity) बढ़ती है। रसायन के प्रयोग द्वारा च्यवन ऋषि पुनः युवावस्था को प्राप्त हुए- **"अस्य प्रयोगाच्चयवन सुवृद्धोऽभूतपुनर्युवा"** रसायन वह है जो वृद्धावस्था को दूर कर युवावस्था लाए और रोगों को दूर करे- **'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्'** सत्य भाषण, क्रोध न करना, आत्म चिन्तन, शान्तचित्तता और सत्यकर्म ये गुण स्वयं में रसायन हैं ऐसा अष्टांगहृदय में कहा गया है कि मेधा वृद्धि के लिए चार रसायन हैं-

१. भूख के अनुसार मण्डूकपर्णी का रस पियें।
२. मुलहठी के चूर्ण को दूध से पिएं।
३. गिलोय का रस पिये।
४. मूल और फूल के साथ शंखपुष्पी का रस पिये।

रसायन के प्रयोगों में च्यवनप्राश अत्याधिक प्रसिद्ध है। रसायन के प्रभाव अधोलिखित हैं-

१. पोषक तत्व के रूप में (Nutrition) जैसे खजूर, शतावरी और घी-दूध हैं।
२. अग्निवर्धक (Digestion and Metabolism) पिप्पली आदि।
३. स्रोतोशोधक रसायन (Micro-circulation) जैसे कस्तूरी रसोन और गुग्गुल आदि।

रसायन के लक्षण के अनुसार आधुनिक दृष्टि से तीन पक्षों का समावेश होता हैं-

१. राक्तादिधातुगतपरिवर्तन - धातुवृद्धिजनक
२. व्याधिक्षमत्वगतपरिवर्तन - व्याधि प्रतिषेधक या व्याधिनिवारक
३. अन्तः स्राव (हार्मोन) गतपरिवर्तन - शक्तिदायक

चरक एवं सुश्रुत संहिताओं में हम धातु, उपधातु रस-उपरस तथा महा रसों का प्रयोग करते हैं। इन शास्त्रों में विष-उपविष रत्नादि के प्रयोगों का भी वर्णन है। यद्यपि इस काल में वानस्पतिक चिकित्सा का प्राधान्य था। फिर भी रस शास्त्रीय द्रव्यों का प्रयोग काफी प्रचलित था। आचार्य सुश्रुत लोह विज्ञान के ज्ञाता थे। इसका वर्णन लौह सर्वस्व में है। आचार्य चरक और सुश्रुत ने पांडुरोग में नवायस लोह का प्रयोग लिखा है। इसका विस्तृत विवरण भारतीय रस-शास्त्र में प्राप्त होता है।

आचार्य चरक ने सूत्र स्थान के तीसरे अध्याय में कुछ, पामा रक्तदोष आदि पर चर्चा की है और इनके उपचारार्थ गन्धक, हरताल, मेनशिल आदि के प्रयोग का निर्देश दिया है। रसचिकित्सा का उस काल में काफी प्रभाव था और यही कारण है कि आचार्य चरक ने सूत्र स्थान यत्र-तत्र इसकी चर्चा की है। नेत्र रोग में प्रवाल मणि-मुक्ता का अंजन रूप में प्रयोग लिखा है। इसी प्रकार पाण्डुरोग में लोहराज या (स्वरज भस्म) का व्यवहार श्रेयस्कर माना गया है।

4.3.2 रसशास्त्र की विशेषता-

रस शास्त्र अन्य शास्त्रों की भांति एक निगूढ़ शास्त्र है। जैसे अन्य संहिताओं में वेद-विधि से गुरुचयन, शिष्यचयन एवं शास्त्रचयन का विधान है, रस शात्र में भी वही विधि अपनायी गयी है।

गुरुपूजन- शुभ मुहूर्त में शिष्योपनयनीय विधान के साथ रसशाला प्रयोगार्ह भवन, यंत्र, पुट, भ्राष्टी, भूषादि का निर्माण करके अघोर मन्त्र का उच्चारण करते हुए रस-कर्म प्रारम्भ किया जाता है। रस-कर्म प्रारम्भ करने के पूर्व रस, उपरस, धातु, उपधातु, रत्नमणि, मुक्ता, प्रवाल, विष, उपविष आदि का अध्ययन करना पड़ता है। वैदिक विधि प्रयोग करने के कारण ही यह रस-तंत्र कहलाता है। रस को वेद तथा आयुर्वेद दोनों माना गया है।

पारद का बोध- प्रकृति में से पारद को किस प्रकार प्राप्त किया जाए इसका विवरण रसरत्न समुच्चय में बहुत सुन्दरता के साथ निरुपित किया गया है। पारद की उत्पत्ति शिव-पार्वती के संयोग से हुई है। प्रकृति में भूचाल होने से ज्वालामुखी में धूम का निकलना, अग्नि की लपट निकलना, लावा के साथ धातु, उपधातु, खनिज द्रव्यों का वहिर्गमन, पारद का वहिर्गमन इत्यादि विषयों का वर्णन एक रूपक में है। पारद भारतवर्ष में पाया जाता है या तिब्बत के आसपास हिगुल-प्राप्ति की बात आई है।

आचार्य चरक, सुश्रुत, बाणभट्ट आदि ने भी सहिंताकाल में इस चिकित्सा का प्रयोग विशेष रूप से किया है। पारद को शक्तिशाली बनाने के लिए रसशास्त्रियों ने आठ द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त किया और इसका नाम महारस रखा।

अभ्रवैकान्त माक्षीक विमलाद्रिज शस्यकम्।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाष्टो संग्रहेद्रसान्।।

जब उन्होंने इनसे भी काम पूरा न होते पाया, तब उन्होंने पुनः अन्वेषण किया और अन्य आठ द्रव्यों को खोजा।

गंधाश्म गौरिकाशीश कांक्षीताल शिलांजनम्।
कंकुष्ठ चेत्युप रसाश्चाष्टी पारद कर्मणि।।

इन आठों को पारद कर्म में विशेष सहायक पाकर उन्होंने इसका नाम उपरस रखा। इन्होंने कार्यकारिणी भक्ति के आधार पर कंकुष्ट एवं कांक्षी- फिटकारी को उपरस की संज्ञा दी। रसशास्त्रियों ने वनस्पतियों एवं अन्य भूगर्भक वस्तुओं से रस बंधकर द्रव्य खोज निकाला। वनस्पतियों से उन्हें कम्पिल्लक, नवसादर, वह्नि जार (भंबर) एवं जैव कपर्दक को लिया और कर्मसिद्ध तथा श्रीवृद्धि में सहायक होने से इसका नाम साधारण रस रखा। उन्होंने देखा कि पारद जैसे अस्थिर द्रव धातु का संमिश्रण रसेन्द्र जारण में सहायक है। पारद के ऊपर कार्यकर विड निर्माण करके स्वच्छ बनाने की सिद्धि प्राप्त करने के बाद रसशास्त्रियों का ध्यान चिकित्सा को सुलभ व गुणशाली बनाने की ओर गया। उन्होंने स्वर्णादि धातु-उपधातु का तथा रत्नों पर रत्न-विष-उपविषका प्रयोग व सम्मिश्रण करके गुणशाली औषधी बनाई। उन्होंने शोधन, मारण,

भस्मीकरण, अमृतीकरण द्रुति एवं सत्व पातन तक क्रियायें की। **'रसे सिद्धे करिष्यामि निर्दारिद्रय मिदं जगत्।'** इस प्रकार रसशास्त्री सारे संसार की दरिद्रता को मिटाने में जुटे हुए थे।

रस चिकित्सा की विशेषता-

१. पारद का संस्कार करके रसबंधन व स्वर्ण रजत निर्माण।
२. शरीर को अमर-अजर बनाने वाले देह सिद्धिकर रसायन प्राप्त करना।
३. त्रस्त रोगीजनों के उद्धारार्थ रस चिकित्सा का ज्ञान।
४. वनस्पति की अधिक मात्रा को अल्प मात्रा में करना।
५. अल्पकाल में असाध्य रोगों के साधन का निर्माण पारद को शरीर के रोगों को दूर करने के लिए रस संभार के अतरिक्त निम्न द्रव्यों का संयोग कर उसे उपयोगी बनाना।

4.3.3 रसायनतंत्र के ग्रन्थ-

आयुर्वेद की सभी संहिताओं में रसायन का प्रकरण मिलता है। आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने दिव्य औषधियों का इस कार्य में प्रयोग किया है। ऋग्वेद में जो सोम का वर्णन है। वह आगे चलकर रसायन का प्रतीक बन गया। अथर्ववेद में सूर्यकिरणों को आयुदाता और रसायन औषधि कहा गया है। जल को भी रसायन, अमृत, भेषज, कहा गया है। जीवन्ती औषधी रसायन है यह जीवनी शक्ति देने वाली और जीवन रक्षक हैं। भावप्रकाश में भी इसे रसायन, त्रिदोषनाशक, शक्तिवर्धक और नेत्रों के लिए हितकारी कहा गया है। अष्टांगहृदय में शिलाजतु (शिलाजीत) को सभी रोगों की चिकित्सा बताया है।

रसायनतंत्र के उपलब्ध ग्रन्थ- चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टांगहृदय, रसायन खण्ड, रसायनतंत्र, रसायन दर्शन आदि।

4.4 वाजीकरण का अर्थ एवं स्वरूप

4.4.1 वाजीकरण का अर्थ एवं स्वरूप-

वाजीकरण को वृषचिकित्सा भी कहते हैं। शुक्र रहित को शुक्र युक्त बनाने की विधि को वाजीकरण कहते हैं। इस चिकित्सा के माध्यम से वीर्यहीन को भी वीर्यवान बनाया जाता है। वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य अतः जिसके पास शुक्र है उसको वाजी कहते हैं। **'वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी'** और जिसके पास शुक्र नहीं हैं वह अवाजी है। जिस क्रिया के द्वारा अवाजी को वाजी बनाया जाता है उसे वाजीकरण कहते हैं- **'अवाजी वाजी क्रियते अनेन इति वाजीकरण।'** शुक्र धातु की उत्पत्ति, पुष्टता एवं उसमें उत्पन्न दोषों एवं उसके क्षय, वृद्धि आदि कारणों से उत्पन्न लक्षणों की चिकित्सा आदि विषयों के साथ उत्तम स्वस्थ संतानोत्पत्ति सम्बन्धी ज्ञान का वर्णन इसके अन्तर्गत ही आते हैं- **'वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचय जननिमित्तं प्रहर्षं जननार्थं च।'** (सु.सू १/८)

वैदिक वांग्मय में वाजीकरण के अनेकों प्रसंगों का उल्लेख प्राप्त होता है। परवर्ती ग्रन्थों के औपनिषदिक प्रकरण के अन्तर्गत वाजीकरण के योग दिए गये हैं। काम व्यापार (सेक्स) गुप्त होने के कारण सम्भवतः औपनिषदिक (रहस्यात्मक) विशेषण दिया गया है। यौन जीवन को सुखी बनाना तथा स्वस्थ-प्रशस्त सन्तति का उत्पादन वाजीकरण का मुख्य उद्देश्य है। स्वस्थ पुरुष के लिये यह विधान है कि वह वाजीकरण का सेवन करने के पश्चात मैथुन क्रिया का

सम्पादन करे। जिसमें यौन सुख तो प्राप्त हो ही, आवश्यक शुक्रक्षय भी न हो। कामशास्त्र के ग्रन्थों में इसका विशेष वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में कुचुमारतंत्र अनंगरंग, पंचसायक आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय है। सम्प्रति कामप्रधान युग में वाजीकरण की प्रभूत उपयोगिता है। परिवार नियोजन के अपर पक्ष को यह समृद्ध करेगा, जिससे निश्चित रूप से संतुलित परिवार नियोजन हो सकेगा।

अष्टांगहृदय में वर्णित है कि ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम रसायन और वाजीकरण औषधि है। आचार्य चरक का भी कथन है कि **"ब्रह्मचर्यम् आयुष्कराणां श्रेष्ठतमम्।"** अर्थात ब्रह्मचर्य ही सर्वोत्तम जीवन शक्ति है। अथर्ववेद में वृषा औषधि को वाजीकरण बताया गया है। वैद्यक शब्द सिन्धु में कपिकच्छु (केवांच, कांच, कवाछु) को वृषा कहा गया है। भावप्रकाश निघण्टु में केवांच के बीजों की खीर बनाकर खाने से शुक्रक्षीणता रोग नष्ट होने का वर्णन है। अथर्ववेद में अर्क (आक, मदार) को वाजीकरण बताया गया है।

4.4.2 वाजीकरण की उपयोगिता-

वाजीकरण आयुर्वेद की अष्टांग चिकित्सा की आठ शाखाओं में से एक अत्यंत महत्वपूर्ण शाखा मानी जाती है, जिसका सम्बन्ध मानव के शारीरिक, मानसिक और प्रजनन स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ है। वाजीकरण चिकित्सा का प्रयोजन केवल संभोग सुख प्राप्त करना नहीं है, अपितु मानव के भीतर स्थित **शुक्र धातु** को सशक्त बनाना और उसकी पोषक श्रृंखला को सुदृढ़ करना भी है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में सात धातुएँ होती हैं, जो इस प्रकार से हैं- **१. रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. मेद, ५. अस्थि, ६. मज्जा और ७. शुक्र।** इनमें शुक्र धातु सबसे सूक्ष्म और अंतिम धातु है, जो समस्त शरीर की ऊर्जा, ओज और जीवन शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। जब शुक्र धातु स्वस्थ होती है, तब व्यक्ति में बल, उत्साह, आकर्षण, प्रसन्नता और प्रजनन क्षमता स्वतः ही प्रकट होती है। वाजीकरण चिकित्सा के माध्यम से इसी शुक्र धातु का पोषण किया जाता है, जिससे व्यक्ति न केवल यौन रूप से स्वस्थ रहता है, अपितु मानसिक रूप से भी प्रसन्न और ऊर्जावान प्रतीत होता है।

वाजीकरण की मानव जीवन में बहुआयामी उपयोगिता है। सर्वप्रथम तो यह वीर्यवर्धक चिकित्सा है। यह औषधियाँ वीर्य की गुणवत्ता, मात्रा और गाढ़ेपन को बढ़ाकर नपुंसकता, शीघ्रपतन होना, शुक्रक्षय होना, और निःसंतानता जैसी समस्याओं में लाभकारी सिद्ध होती हैं। आज की भागदौड़ भरी और तनावपूर्ण जीवनशैली में अधिकांश लोग मानसिक दबाव, असंतुलित आहार, अनिद्रा और नशे जैसी आदतों के कारण यौन दुर्बलता का सामना करते हैं। वाजीकरण चिकित्सा ऐसे लोगों के लिए वरदान मानी गयी है, क्योंकि यह न केवल शारीरिक शक्ति को बढ़ाती है बल्कि मानसिक संतुलन और आत्मविश्वास भी प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त वाजीकरण चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह वृद्धावस्था में यौवन को बनाए रखने में सहायक सिद्ध होती है। जब शरीर की धातुएँ कमजोर होने लगती हैं, तब शुक्र धातु भी शिथिल पड़ने लगती है, जिससे यौन इच्छा और सामर्थ्य दोनों घट जाते हैं। वाजीकरण औषधियाँ रस और ओज को बढ़ाकर शरीर में पुनः योवन लाने का कार्य करती हैं। इसीलिए इसे **"रसायन चिकित्सा"** का भी एक रूप माना गया है। वाजीकरण चिकित्सा मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी अत्यंत उपयोगी मानी गई है। जब मनुष्य यौन रूप से संतुष्ट और संतुलित रहता है, तो उसका मन शांत, स्थिर और प्रसन्न रहता है। इससे तनाव, चिंता, और अवसाद जैसी मानसिक समस्याएँ कम होती हैं।

यौन असंतुलन अक्सर मानसिक विकारों और वैवाहिक तनाव का कारण बनता है, अतः वाजीकरण व्यक्ति के सामाजिक और दांपत्य जीवन में भी सामंजस्य लाने में सहायक होता है। यह व्यक्ति में आत्मविश्वास, ऊर्जा और सृजनात्मकता का विकास करता है, जिससे उसका जीवन अधिक सकारात्मक दिशा में अग्रसर होता है। वाजीकरण औषधियाँ केवल वीर्य या यौन अंगों पर ही नहीं, बल्कि संपूर्ण शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली पर भी कार्य करती हैं। ये औषधियाँ शरीर में ओज का निर्माण करती हैं, जो रोग प्रतिरोधक शक्ति का मूल तत्व है। अश्वगंधा, शतावरी, गोखरू, कौंच बीज, सफेद मुसली, विदारीकंद आदि औषधियाँ शरीर में बल, ऊर्जा और सहनशक्ति बढ़ाती हैं। इनका नियमित और उचित मात्रा में सेवन शरीर को स्फूर्त, मन को प्रसन्न, और यौन शक्ति को स्थिर बनाता है।

आयुर्वेद में वाजीकरण को सामाजिक दृष्टि से भी अत्यंत उपयोगी माना गया है। जब समाज के व्यक्ति शारीरिक, मानसिक और यौन रूप से स्वस्थ होते हैं, तो वे सशक्त संतानों को जन्म देते हैं, जिससे समाज की गुणवत्ता और संस्कृति की निरंतरता बनी रहती है। स्वस्थ और सशक्त संतति राष्ट्र की प्रगति का आधार होती है। अतः वाजीकरण केवल व्यक्तिगत सुख का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का भी साधन है।

वर्तमान युग में, जहाँ मानसिक तनाव, प्रदूषण, असंतुलित आहार और अनियमित दिनचर्या ने जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है, वाजीकरण चिकित्सा का महत्व और भी बढ़ गया है। यह व्यक्ति को न केवल यौन रूप से सशक्त बनाती है, बल्कि जीवन में आनंद, उत्साह और संतुलन का भाव भी जगाती है। आधुनिक चिकित्सा जहाँ केवल शारीरिक समस्याओं पर केंद्रित रहती है, वहीं वाजीकरण चिकित्सा मनुष्य के **शरीर, मन और आत्मा तीनों का समन्वय** साधने का प्रयास करती है।

अतः कहा जा सकता है कि वाजीकरण चिकित्सा आयुर्वेद का एक ऐसा रत्न है जो केवल यौन शक्ति बढ़ाने का साधन नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन को स्वस्थ, संतुलित और आनंदमय बनाने की कला है। यह व्यक्ति को केवल शारीरिक रूप से नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक रूप से भी ऊर्जावान बनाती है। जब मनुष्य का शरीर स्वस्थ होता है, उसका मन प्रसन्न होता है, और आत्मा संतुष्ट रहती है तभी जीवन का वास्तविक आनंद संभव होता है।

4.4.3 वाजीकरण के प्रमुख ग्रन्थ-

वाजीकरण के अनेक प्रसंग वेदों में प्राप्त होते हैं। परवर्ती ग्रन्थों में औपनैषदिक (रहस्यात्मक) प्रकरण के अन्तर्गत वाजीकरण के योग दिये गये हैं। यौन जीवन को प्रशस्त बनाना तथा स्वस्थ-प्रशस्त सन्तति का उत्पादन वाजीकरण का उद्देश्य है।

कुचुमारतंत्र, अनंगरंग, कामसूत्र और पंचसायक आदि इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता और अष्टांगहृदय आदि भी इसके सन्दर्भ ग्रन्थों में आते हैं।

4.5 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों,

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि आयुर्वेद के अन्तर्गत अष्टांग चिकित्सा की आठ शाखाओं में रसायन एवं वाजीकरण अत्यंत महत्वपूर्ण शाखाएँ मानी जाती हैं।

रसायन के सेवन से मनुष्य दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण, स्वर की निर्मलता, शरीर इन्द्रिय में बल, वाक्-सिद्धि, वीर्य की अधिकता और कान्ति प्राप्त करता है। जिसके द्वारा श्रेष्ठ रस-रक्त आदि धातुओं की प्राप्ति होती है, वह रसायन है। रसायन औषधों का केवल स्वास्थ्य वर्धन में प्रयोग नहीं होता परन्तु इसके द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा भी की जाती है। इसका प्रयोग करने से रोगप्रतिरोधकता (Resistance) या क्षमता (Immunity) बढ़ती है।

वाजीकरण को वृषचिकित्सा भी कहते हैं। शुक्र रहित को शुक्र युक्त बनाने की विधि को वाजीकरण कहते हैं। इस चिकित्सा के माध्यम से वीर्यहीन को भी वीर्यवान बनाया जाता है। वाज का अर्थ है शुक्र या वीर्य अतः जिसके पास शुक्र है उसको वाजी कहते हैं। 'वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी' और जिसके पास शुक्र नहीं हैं वह अवाजी है। जिस क्रिया के द्वारा अवाजी को वाजी बनाया जाता है उसे वाजीकरण कहते हैं- 'अवाजी वाजी क्रियते अनेन इति वाजीकरण।' वर्तमान युग में, जहाँ मानसिक तनाव, प्रदूषण, असंतुलित आहार और अनियमित दिनचर्या ने जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया है, वाजीकरण चिकित्सा का महत्व और भी बढ़ गया है। यह व्यक्ति को न केवल यौन रूप से सशक्त बनाती है, बल्कि जीवन में आनंद, उत्साह और संतुलन का भाव भी जगाती है। वाजीकरण औषधियाँ केवल वीर्य या यौन अंगों पर ही नहीं, बल्कि संपूर्ण शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली पर भी कार्य करती हैं। ये औषधियाँ शरीर में ओज का निर्माण करती हैं, जो रोग प्रतिरोधक शक्ति का मूल तत्व है। अश्वगंधा, शतावरी, गोखरू, कौंच बीज, सफेद मुसली, विदारीकंद आदि औषधियाँ शरीर में बल, ऊर्जा और सहनशक्ति बढ़ाती हैं। इनका नियमित और उचित मात्रा में सेवन शरीर को स्फूर्त, मन को प्रसन्न, और यौन शक्ति को स्थिर बनाता है।

4.6 पारिभाषिक शब्दावली

- विदारीकंद - एक प्रकार की जडी-बूटी है।
- अनियमित - नियम रहित
- असंतुलित - असमान
- सामंजस्य - तालमेल, सद्भाव, सहमति
- रोगप्रतिरोधकता - बीमारियों से लड़ने की क्षमता
- बहुआयामी - कई पहलुओं वाला
- निगूढ़ - रहस्यपूर्ण अर्थ वाला, अत्यन्त गुप्त
- पौरुष - पुरुष की शक्ति
- सन्तति - संतान, औलाद
- पांडुरोग - एक आयुर्वेदिक बीमारी है, जिसे आधुनिक चिकित्सा में एनीमिया कहा जाता है।

अभ्यास प्रश्न-

१. लौह विज्ञान के ज्ञाता किन्हें माना जाता है?

२. आचार्य चरक और----------ने पाण्डुरोग में नवायस लोह का प्रयोग लिखा है।

३. अष्टांगहृदय में वर्णित है कि----------ही सर्वोत्तम रसायन और वाजीकरण औषधि है।

४. शुक्र रहित को शुक्र युक्त बनाने की विधि को क्या कहा जाता है?

५. वाजीकरण को----------भी कहते हैं।

६. किस शास्त्र में सूर्यकिरणों को आयुदाता और रसायन औषधि कहा गया है?

७. प्रकृति में से----------को किस प्रकार प्राप्त किया जाए इसका विवरण रसरत्न समुच्चय में बहुत सुन्दरता के साथ निरुपित किया गया है।

८. अथर्ववेद में वृषा औषधि को क्या बताया गया है?

९. आयुर्वेद किस वेद का उपवेद माना जाता है?

१०. काश्यप संहिता एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में आयुर्वेद को----------भी कहा गया है।

११. आयुर्वेद चिकित्सा की कितनी शाखाएँ हैं?

१२. अवाजी----------क्रियते अनेन इति वाजीकरण

१३. आयुर्वेद की सभी संहिताओं में----------का प्रकरण मिलता है।

१४. कौन सी चिकित्सा मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत उपयोगी मानी गई है?

१५. भावप्रकाश निघण्टु में केवांच के बीजों की खीर बनाकर खाने से शुक्रक्षीणता रोग नष्ट होने का वर्णन है।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. आचार्य सुश्रुत

२. सुश्रुत

३. ब्रह्मचर्य

४. वाजीकरण

५. वृषचिकित्सा

६. अथर्ववेद

७. पारद

८. वाजीकरण

९. अथर्ववेद

१०. पंचमवेद

११. आठ

१२. वाजी

१३. रसायन

१४. वाजीकरण

१५. केवांच

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19. संस्कृत-वांग्मय का बृहद् इतिहास (सप्तदश-खण्ड आयुर्वेद का इतिहास), प्रधान सम्पादक स्व० पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, प्रो. श्रीनिवास रथ, सम्पादक डॉ रमानाथ द्विवेदी, प्रो. रविदत्त त्रिपाठी, प्रकाशक- प्रमोदकुमारपाण्डेय, निदेशक, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ (पृष्ट संख्या १६३, १६८, १७४, १७५, ३८५, ३८१ इत्यादि)
20. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त, (पृष्ट संख्या ८४, ८५, ८६)
21. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, लेखक आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रकाशक- चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी
22. अष्टांगहृदयम्, व्याख्याकार डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, ३८ यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड़ पो. बा. नं. २११३, दिल्ली ११०००७
23. सुश्रुतसंहिता (उत्तरतन्त्र), व्याख्याकार डॉ अम्बिकादत्तशास्त्री, प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

१. रसायनतंत्र का अर्थ एवं स्वरूप की विवेचना कीजिए।

२. वाजीकरणतंत्र का अर्थ एवं स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।

३. वाजीकरण की उपयोगिता को अपने शब्दों में विस्तार से लिखिए।

४. रसशास्त्र की विशेषता का निरूपण कीजिए।